मार्ग-प्रकाशिनी

बेसण्ट लेडबीटर भाष्य सहित

आनन्द प्रकाशन लिमिटेड, बनारस-१

आध्यात्मिक जीवन

चरणेषु'पर श्रीमती ऐनी बेसण्ट

विशद भाष्यका

ल्यादेवी

४)

।=)
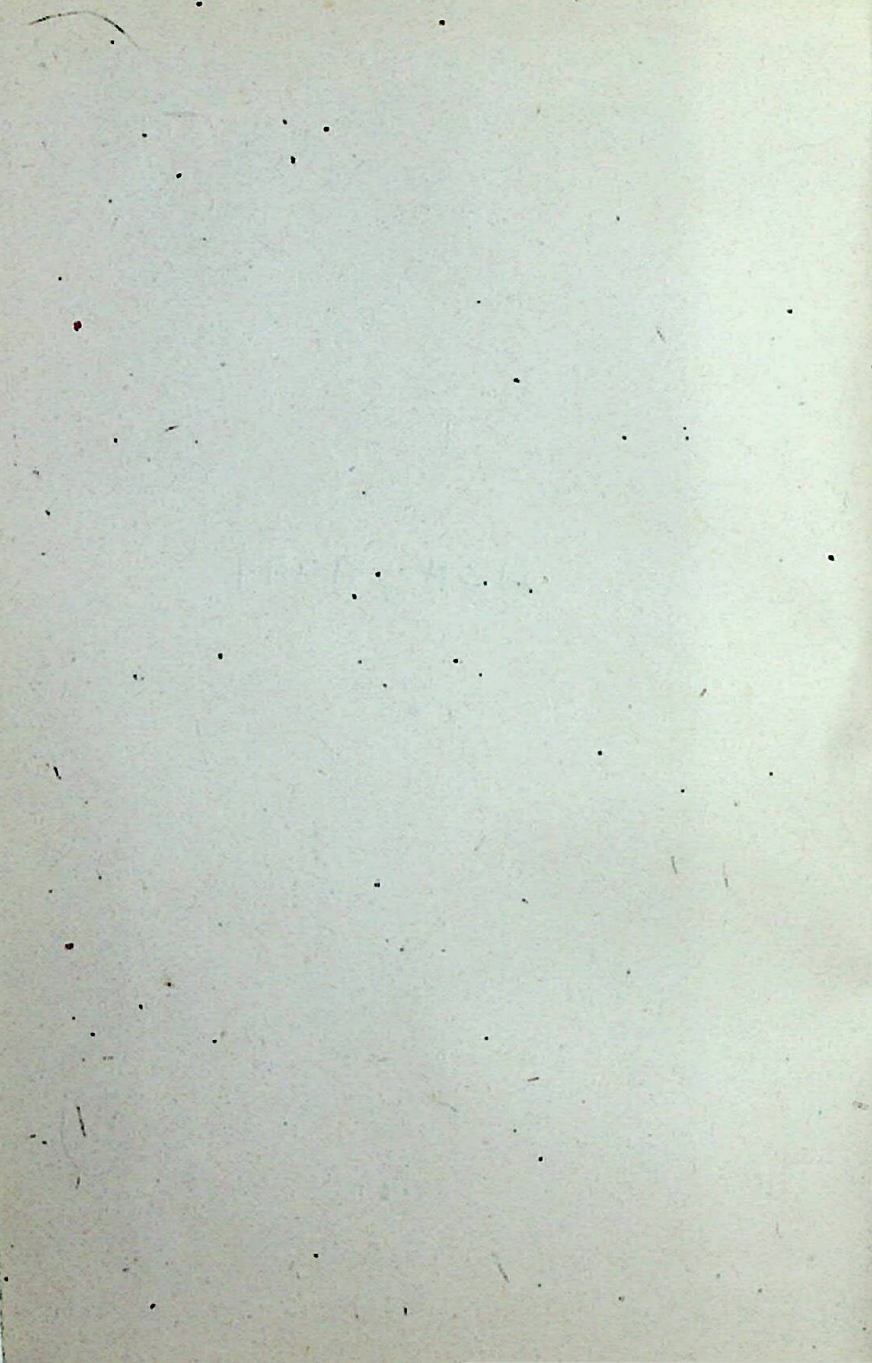
मार्ग-प्रकाशिनी

भाष्य सहित

मूल लेखिका

मैबूल कॉलिन्स

भाष्यकार

ऐनी बेसण्ट और सी० डब्ल्यू० लेडबीटर

संक्षिप्त हिंदी रूपांतरकार

रामचन्द्र शुक्ल

आनन्द प्रकाशन लिमिटेड, बनारस-१

प्रकाशक
आनंद प्रकाशन लिमिटेड,
थिओसॉफिकल सोसायटी,
कमच्छा, बनारस १.

प्रथम हिंदी संस्करण
मार्च १९५६
मूल्य १।।)

मुद्रक
श्री रामेश्वर पाठक,
तारा यंत्रालय, कमच्छा,
बनारस १.

दो शब्द

'लाइट ऑन द पाथ' अध्यात्म विषयकी एक अत्यंत महत्व-पूर्ण पुस्तिका है। इसे अंग्रेजी भाषामें इसके वर्तमान रूपमें सुश्री मैबल कॉलिन्सने १८८५ ई० में लिख कर प्रकाशित किया था। जानकारोंका कथन है कि इन्होंने यह पुस्तक रची नहीं, अपने गुरुदेव महात्मा हिलेरिअन द्वारा प्राप्त करके, प्रकट की। स्वयं महात्मा हिलेरिअनने मूल पुस्तक अपने गुरु चौहान विनीशिअनसे पायी थी। परन्तु उस रूपमें भी पुस्तकका 'व्याख्या' वाला भाग ही चौहान विनीशिअनकी अपनी कृति थी। प्रथम भागके १५ मूल सूत्र और द्वितीय भागके १५ मूल सूत्र अत्यन्त प्राचीन हैं और संस्कृत भाषाके किसी प्राचीन रूपमें शब्द-बद्ध थे। इस प्रकार पुस्तकमें (१) प्राचीन मूल सूत्र (जो गहरे काले अक्षरोंमें छपे हैं) (२) चौहान विनीशिअन कृत इन सूत्रोंकी व्याख्या तथा (३) महात्मा हिलेरिअन लिखित टिप्पणियाँ—ये तीन अंश हैं। दोनों भागोंमें ये तीनों अंश मिलेंगे। तीन-तीन सूत्रोंके समूहों पर अगली संख्याके अन्तर्गत पूज्य चौहानकी व्याख्या है। सूत्रोंके साथ तत्संबंधी व्याख्याको मिलाकर पढ़नेसे आशय अच्छी तरह समझमें आता है।

थिऑसोफीके साधक-मंडलोंमें तीन पुस्तकोंका बड़ा मान है। एक तो यही 'लाइट ऑन द पाथ', दूसरी मैडेम ब्लैवेट्स्की कृत 'द वॉएस ऑफ द साइलेंस' (इसका अनुवाद 'सारशब्द' के नामसे बहुत दिन हुए लाहौरमें प्रकाशित हुआ था) और तीसरी 'एट द फीट ऑफ द मास्टर' जिसका हिंदी अनुवाद 'श्रीगुरु चरणेषु' के नामसे प्रकाशित हुआ है।

कुछ वर्ष पहले पंड्या बैजनाथजीने 'मार्ग प्रकाशिनी' नामसे 'लाइट ऑन द पाथ' का अनुवाद कुछ टीका सहित प्रकाशित किया था। तब श्रीमती ऐनी बेसण्ट और श्री लेडबीटरका

भाष्य प्रकाशित नहीं हुआ था। 'मार्ग प्रकाशिनी' का वह संस्करण अब अप्राप्य है। पंड्याजीने पुस्तकका एक नवीन संस्करण (भाष्य सहित) प्रकाशित करनेकी इच्छा प्रकट की और उसका प्रकाशन-व्यय आनंद प्रकाशनको स्वयं देना स्वीकार किया। इसी सभाष्य संस्करणके लिए फिर नया अनुवाद तय्यार किया गया। श्री रोहित महेताजीने 'लाइट ऑन द पाथ' का अच्छा अध्ययन और मनन किया है। कृपा करके उन्होंने तीस मूल सूत्रोंका अनुवाद प्रस्तुत कर दिया; व्याख्या और टिप्पणियोंका हिंदी रूपांतर पंड्याजीके अनुवादकी सहायता लेकर फिरसे किया गया।

अंग्रेजीमें डॉ० ऐनी बेसण्ट तथा श्री सी० डब्ल्यु० लेडबीटर कृत 'टॉक्स ऑन द पाथ ऑफ ऑकल्टिज्म खंड ३' इसी 'लाइट ऑन द पाथ' पर बृहत् भाष्य है। यह भाष्य अंग्रेजीमें साढ़ेचारसौसे अधिक पृष्ठोंमें सम्पूर्ण हुआ है। सारे भाष्यका अक्षरशः अनुवाद न करके प्रत्येक अध्यायका संक्षिप्त अनुवाद हिंदी संस्करणमें प्रस्तुत किया जा रहा है। प्रयत्न यही किया गया है कि महत्वकी कोई बात छूटने न पाये और ग्रंथका आशय हिंदी पाठकोंके लिए सुलभ हो जाय। आशा है कि पाठकोंको इस भाष्यसे 'मूल-मार्गप्रकाशिनी' को समझनेमें सहायता मिलेगी।

अनुवादक पूज्य पंड्या बैजनाथजीका आभारी है कि उनके आदेशके पालनमें उसे इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थको ध्यानसे पढ़ने-समझनेका अवसर मिला। अपने सहयोगी श्री बी० केशवचन्द्र-जीका भी वह आभारी है; उन्होंने प्रूफ संशोधन और उचित सम्मतियों द्वारा उसकी सहायता की।

१७ फरवरी १६५६ अनुवादक

प्रथम भाग

अध्याय १

प्रस्तावना

'लाइट ऑन द पाथ' (मार्गप्रकाशिनी) एक अत्यंत प्राचीन अध्यात्म संबंधी पुस्तक है। आधुनिक जगत्को पहिले-पहल इसे श्वेतसंघके एक सिद्धपुरुष महात्मा हिलेरिअनने दिया। उन्होंने इसे एक और वरिष्ठ सिद्धपुरुष चौहान विनीशिअनसे प्राप्त किया था। इस पुस्तकके पंद्रह मूल सूत्र पहिले भागके, और पंद्रह दूसरे भागके, अत्यंत प्राचीन हैं और इनकी भाषा संस्कृतका एक अत्यंत प्राचीन रूप थी। चौहान विनीशिअन ने इस पर कुछ व्याख्या जोड़ दी है और वह व्याख्या भी अब पुस्तककाही अंग हो गयी है। इन प्रथम पंद्रह सूत्रोंका अत्यंत प्राचीन रूप आगे दिया गया है। अंतिम खानेमें सूत्रोंकी वर्तमान क्रमसंख्या दी हुई है।

अगले पृष्ठपरके नक्शेमें वर्तमान क्रमसंख्या ४, ८, १२, १६, २० तथा २१ वाले सूत्र नहीं हैं। ये अंश उन अत्यंत प्राचीन सूत्रोंमें महात्मा विनीशिअनने जोड़े थे। इनके अतिरिक्त महात्मा

मूल क्रम संख्या		वर्तमान क्रम संख्या
१	महत्वाकांक्षाको दूर करो।	१
२	जीवन-तृष्णाको दूर करो।	२
३	सुख-प्राप्तिकी इच्छाको दूर करो।	३
४	द्वैतभावको समग्र रूपसे दूर करो।	५
५	संवेदनकी इच्छाको दूर करो।	६
६	उन्नतिकी आकांक्षाको दूर करो।	७
७	जो तुम्हारे भीतर है, केवल उसीकी इच्छा करो।	९
८	जो तुमसे परे है, केवल उसीकी इच्छा करो।	१०
९	जो अप्राप्य है, केवल उसीकी इच्छा करो।	११
१०	शक्तिकी उत्कट इच्छा करो।	१३
११	शांतिकी अदम्य इच्छा करो।	१४
१२	संपत्तिकी अपूर्व इच्छा करो।	१५
१३	मार्गकी शोध करो।	१७
१४	अपने आंतरक्षेत्रमें प्रविष्ट होकर मार्गकी शोध करो।	१८
१५	बाह्य जीवनमें हिम्मतसे आगे बढ़कर मार्गकी शोध करो।	१९

हिलेरिअनकी कुछ टिप्पणियाँ भी हैं। ये तीनों अंश १८८५ में श्रीमती मैबूल कॉलिन्सकी लेखनी द्वारा प्रकट हुए थे। मूल अंग्रेजी अनुवाद महात्मा हिलेरिअनकाही था; उन्होंने अपने इस शिष्याके द्वारा उसे प्रकट किया था।

ये नियम सभी शिष्योंके लिए हैं :
इन पर ध्यान दो।

सांसारिक व्यक्तियों और शिष्योंमें यहाँ अंतर बताया गया है; यह पुस्तक सांसारिक लोगोंके लिए नहीं है, शिष्योंके लिए है। शिष्य भी दो प्रकारके होते हैं; अदीक्षित और दीक्षित। प्रत्येक वाक्यके दो अर्थ हैं; एक गूढ़ार्थ उच्च शिष्योंके लिए, दूसरा साधारण अर्थ अन्य शिष्योंके लिए। पुस्तकका दूसरा भाग पूर्णतया उच्च तथा दीक्षित शिष्योंके लिएही है; परंतु प्रथम भागमें भी दो प्रकारके अर्थ निकलते हैं।

जो लोग अभी शिष्यत्वके पथसे दूर हैं, वे इन नियमोंको अव्यावहारिक बताकर टीका-टिप्पणी करते हैं; कहते हैं कि नियम बड़े कठोर तथा सहानुभूति-शून्य हैं। लोगोंकी पहुँचके बाहरके आदर्श उपस्थित करनेपर ऐसाही जान पड़ता है। इसी लिए किसीके सम्मुख आदर्श रखनेमें पात्र-अपात्रका विचार अत्यंत आवश्यक है। हमें किसी आध्यात्मिक उपदेशसे उतनाही प्राप्त होता है जितनेके हम अधिकारी हैं, जितनेके प्रति हम ग्रहणशील हैं।

इस पुस्तक पर ध्यान देकर मनन करनेसे इसका अर्थ बहुत कुछ समझा जा सकता है। पढ़ना थोड़ा और सोचना अधिक; निम्न मनको शांत करके अपनी चेतनाको सूत्रोंके गूढ़ार्थ तक पहुँचने देनेका प्रयत्न करना चाहिए।

मूल सूत्रोंके साथ साथ चौहान विनीशिअनकी व्याख्या भी जुड़ी हुई है; जैसे 'महत्वाकांक्षाको दूर करो' के साथ 'किंतु जो महत्वाकांक्षी हैं. उन्हींके समान परिश्रम करो।' 'जीवनकी तृष्णाको दूर करो' के साथ 'किंतु जिन्हें जीवनकी तृष्णा है उन्हींके समान प्राणिमात्रके जीवनका सम्मान करो' आदि। इसी तरह अन्य सूत्रोंमें भी है।

मूल सूत्रोंके दूसरे समूहमें (५ से ८ तक) मानवके सामाजिक धर्मकी चर्चा है; औरोंके साथ अपनी एकात्मताका अनुभव करने पर बल दिया है। अपने सुख, अपनी उन्नतिकी कामना छोड़कर सबके सुख, सबकी उन्नतिके लिए प्रयत्न करना चाहिए।

फिर ६ से १२ तक के सूत्रोंमें बताया है कि कामना किस वस्तु की करनी चाहिए। अपने उच्चात्माके प्रति हमारा क्या कर्तव्य है, यह दिखाया गया है। फिर १३ से १६ तक उन गुणोंकी चर्चा है, जिनकी हमें साधन-पथ पर अपेक्षा है; और अंतमें १७ से २० तकके सूत्र मार्गकी शोधका ढंग बताते हैं।

अध्याय २

चार प्रारंभिक सूचनाएँ

आँख देख सके इसके पूर्व इसमेंसे अश्रुपात असंभव हो जाना चाहिए ।

यह पहिली सूचना है। इन चार सूचनाओंमें सम्यक् दृष्टि, सम्यक् श्रवण, सम्यक् वाणी और सम्यक् उपस्थिति का वर्णन है; अर्थात् बताया है कि गुरुदेवके नेतृत्वमें लोकसेवा कैसे की जा सकती है।

परीक्ष्यमाण शिष्योंके लिए इन सूचनाओंका अर्थ है, अहंकार (देहात्म-भाव) का विनाश; अपने निम्नात्माको पृथक् कर देना। दीक्षित शिष्योंसे इससे कुछ और अधिक अपेक्षित है; उन्हें अपने व्यक्तित्व, अपने बार बार जन्मलेनेवाले जीवत्वको ही मिटाकर सर्वथा विशुद्धात्मासे एक हो जाना है। इसलिए इन चारों सूचनाओंके, ये दो अर्थ साधककी अवस्थाके अनुसार अलग अलग निकलेंगे।

यह भी ध्यानमें रखनेकी वस्तु है कि इन सूचनाओंका अर्थ दक्षिण मार्गीय उपदेशके अनुसार एक होगा और वाम मार्गीय उपदेशके अनुसार दूसरा ही। आँखके आँसू दो प्रकारसे समाप्त हो सकते हैं; एक तो दूसरोंके दुःख-दर्दके प्रति सर्वथा उदासीन

होकर, जो वाम मार्गका ढङ्ग है; दक्षिण मार्गका पथिक केवल अपने निजी दुख-दर्दके लिए आँसू बहाना बन्द करता है, परन्तु दूसरोंके दुख-दर्दके लिए उसे करुणा और सहानुभूति बनी रहती है। दूसरोंके दुख-दर्दके प्रति उदासीन होनेमें तो दक्षिण मार्गके साधकके लिए बड़ा खतरा है। वाम मार्ग सदैव प्रत्येक व्यक्तिके एकाकीपन पर बल देता और उसे बढ़ाता है; दक्षिण मार्ग एकात्म्य पर बल देता है और समस्त जीवनसे एकात्म्यही उसका लक्ष्य है।

दक्षिण पथका साधक अपने सुख-दुखके प्रति सर्वथा उदासीन हो जाता है, परन्तु लोक-कल्याणके लिए, दूसरोंके दुख-दर्दके प्रति वह सर्वथा सजग और ग्रहणशील रहता है। केवल आँखके सामनेके कष्टही उसे दुखित नहीं करते; वह तो सदैव सभी कष्टोंके प्रति जागरूक रहता है और उन्हें मिटानेके लिए सचेष्ट। संसारके कष्ट और पीड़ा पर मनन करनेसे मनुष्य अपने दुख दर्दको भूल जाता है और संसारके दुख-दर्दको दूर करनेके लिए सक्रिय प्रयत्न करने लगता है। दीक्षा प्राप्त कर लेने पर यह 'अश्रुशून्यता' एक नया रूप धारण कर लेती है। अब जीव विधिविधान और विकास-क्रमको समझने लगता है और दुख तथा कष्टके वास्तविक प्रयोजनको समझ जाता है। इस कष्ट और दुखसे जीवका हित होता दीख पड़ने लगता है, इसलिए साधक चिन्तित और चञ्चल नहीं होता। उज्ज्वल भविष्य देख कर उसे संतोष होता है। दुख दर्द दूर करनेके प्रयत्न वह आज भी करता है, पर अब घबड़ाता नहीं और अधीर नहीं होता। कष्टके उद्देश्यकी पूर्तिसे पहिलेही कष्ट मिट जाय, ऐसी इच्छा भी अब उसको नहीं होती।

एकात्म्य-भावके कारण दूसरोंकी सहायता करते समय

साधक उनके कष्टको अपनाही कष्ट समझता है; ठीक वैसाही अनुभव करता है जैसे कष्ट सहनेवाला स्वयं, और इसलिए सहायता भी भीतरसे होती हुई जान पड़ती है और उसका प्रभाव भी स्थायी होता है।

लोगोंके दुखको समझना और फिर भी स्वयं शान्त बने रहना और विचलित न होना कठिन काम है, सहज नहीं; पर हम सच्ची सहायता तभी कर सकते हैं, जब हम शान्त रहें, बुद्धिको भ्रमित न होने दें, सहानुभूति रखते हुए और करुणासे द्रवित होकर भी अपनी विवेक-बुद्धि नष्ट न होने दें। दूसरोंके दुख देखकर मनुष्य अपना दुख भूल जाता है; संसारके कष्टके सामने अपना कष्ट नगण्य लगता है। इस प्रकार हमारे नेत्र अश्रुविहीन हो जाते हैं।

किसीके दुखकी गहनता या पीड़ाको समझना सहज नहीं है। जो कष्ट एकको सहजमें सह्य जान पड़ता है, वही दूसरेको सर्वथा असह्य हो सकता है। इसलिए दूसरेके कष्टको समझना साधारण बात नहीं है। परन्तु कष्टसे द्रवित होने पर भी मनको वशमें रखना चाहिए और सोच समझकर बुद्धिमानीके साथ सहायता करनेका प्रयत्न करना चाहिए।

कान सुन सके, इसके पूर्व इसकी संवेदना असंभव हो जानी चाहिए।

कोई उसके बारेमें क्या कहता है, इसके प्रति शिष्यको सर्वथा उदासीन हो जाना चाहिए; न प्रशंसासे प्रसन्न होना चाहिए, न निन्दासे दुखी। साधक प्रगति-पथ पर बढ़ता हुआ सूक्ष्म शक्तियाँ प्राप्त करता है; वह लोगोंके विचार बिना उनके कहे जान

लेता है; वे उसके बारेमें क्या सोचते हैं, उसे स्पष्ट हो जाता है। यदि वह उन विचारोंके प्रति सर्वथा उदासीन न हो जाय, तो जीवन दूभर हो जाय। सूक्ष्म शक्तियोंकी प्राप्ति कोई सुविधाजनक वस्तु नहीं है, उसका एक कष्टमय पहलूभी है। लोक-निन्दाके प्रति उदासीन होना एक अत्यन्त आवश्यक गुण है, तभी हम अनासक्त भावसे अपने कर्तव्य-पथ पर दृढ़ रह सकेंगे। पर-निन्दाके पातकका परिणाम निंदकके लिए कितना बुरा होता है, यह ध्यानमें रखते हुए लोगोंको निंदा करनेका बहुत कम अवसर देना चाहिए। यद्यपि उनकी सम्मतिका कुछभी मूल्य हमारे लिए न हो, फिर भी उन्हें इस पापका भागी क्यों बनाया जाय?

गुरुदेवके सान्निध्यमें वाणीका उच्चारण होनेके पूर्व अप्रिय वचन असंभव हो जाना चाहिए।

दूसरेको दुख पहुँचानेवाली कोई भी वस्तु शिष्यमें न होनी चाहिए। किसीको दुख देनेवाली बात, किसीके सम्मानमें चोट पहुँचानेवाली बात न कहनी चाहिए। दूसरोंकी भूल दिखाना कभी-कभी अपना कर्तव्य हो सकता है, पर इसके लिए उसे पीड़ित या लज्जित करनेकी तो आवश्यकता नहीं है; स्नेहके साथ भूल बताने पर भूल करनेवालेको पीड़ा नहीं होती। यदि हम अपराधीसे एकात्म्य करके उसके अपराधकी बात उसे बताएँ, तो उसे चोट न लगे, पीड़ा न हो।

जो कोई गुरुदेवका सामीप्य प्राप्त करना चाहता है, उसमें दूसरोंको पीड़ा पहुँचानेकी इच्छाका लेश भी न रह जाना चाहिए। बिना कष्ट पहुँचानेकी इच्छाके भी अपनी असावधानीके कारण हम अपनी बातोंसे दूसरोंको पीड़ा पहुँचा देते हैं। हमें सतर्क रहना चाहिए कि ऐसा न होने पावे। वाक्-तप अत्यन्त आवश्यक

है। कभी यदि कटु सत्य कहना भी पड़े, तो न्याय-बुद्धिसे शांतिके साथ अक्रोध होकर ही कहना चाहिए।

> गुरुदेवके सम्मुख उपस्थित होनेके पूर्व शिष्यको अपने हृदयके रक्तस्रोतसे अपना पादप्रक्षालन कर लेना चाहिए।

इस वाक्यमें बलिदानका रहस्य छिपा हुआ है। बलिदानकी शिक्षा सभी धर्मोंमें आज भी मिलती है, परंतु अधिकतर विकृत रूपमें। रक्तदान सेवाका चरम स्वरूप माना जाता रहा है। इस संबंधमें हमारी सोसायटी (थिओसॉफिकल सोसायटी) के संस्थापकोंके पूर्व-जन्मकी एक घटना याद करने योग्य है। महात्मा मौर्य उस समयके एक बड़े राजा थे; उनका एक-मात्र पुत्र था वह जीव जिसे हम 'मैडम ब्लैवेट्स्की' के नामसे जानते हैं। राजकुमार एक राजपुरुष (कर्नल ऑल्कॉट) के संरक्षणमें घूमने जाया करता था। एक दिन कुछ षड्यंत्रकारियोंने राजकुमारपर ऐसे समय आक्रमण किया जब उस सरदार (कर्नल ऑल्कॉट) के सिवा और कोई उसके पास न था। सरदारने बीचमें कूदकर राजकुमारकी रक्षा की और स्वयं घायल होकर भूमिपर गिर पड़ा। मरते हुए सरदारने अपने रक्तमें उंगली डुबोकर महाराजके चरणोंपर छू दिया। महाराजने द्रवित होकर कहा 'तुमने मेरे और मेरे पुत्रके लिए अपना प्राणदान दिया है, कहो मैं तुम्हारे लिए क्या करूँ?' सरदारने कहा 'वरदान दीजिये कि हम दोनों, राजकुमार और मैं, अगले जन्मोंमें भी आपकी सेवा करते रहें।' तब महाराजने कहा 'जो रक्त तुमने मेरे पुत्र और मेरे लिए बहाया है, उससे हमारा तुम्हारा स्नेह-बंधन कभी टूटने न पायेगा।' समय पाकर महाराज

जीवन्मुक्त सिद्ध पुरुष हुए और सरदार तथा राजकुमार उनके शिष्य हुए। शरीरका बलिदान करके सरदारने आत्माके संबंधको अटूट कर लिया।

स्वेच्छासे आत्म-बलिदान करके ही मानव उन्नतिके पथपर अग्रसर होता है। इस आत्म-बलिदानका विकृत रूप है पशुओंका बलिदान।

शिष्यको अपने पैर हृदयके रक्तसे धो लेने चाहिए अर्थात् जो कुछ उसे अत्यंत प्रिय है, जो अत्यंत मूल्यवान् है, यहाँ तक कि अपना जीवन, अपने प्राण—सब कुछ बलिदान करके ही उच्च जीवनकी प्राप्ति संभव है। जिसमें इस प्रकार आत्म-बलिदानका बल नहीं है, वह गुरुदेवके समक्ष उपस्थित होनेके योग्य नहीं।

हृदयका रक्त हमारे निम्न जीवनका द्योतक है। उच्च जीवनके लिए निम्न-जीवनका बलिदान आवश्यक है। आत्माके चरण यही हमारा अहंकार-पूर्ण देहात्मा है, जिसका बलिदान होने ही पर उच्च-जीवनकी प्राप्ति होती है। यही नियम है। बच्चा खिलौने खेलता है, परंतु बड़े होनेपर उन्हें छोड़कर अन्य खेलोंमें सम्मिलित होता है। फिर खेल छोड़कर पुस्तकोंपर जुटता है। रोचक कथा-कहानी छोड़कर शुष्क तर्क और न्यायके ग्रंथ पढ़ता है। किसी शारीरिक व्यायाममें सफलता प्राप्त करनेके लिए खाने-पीनेकी स्वादिष्ट वस्तुएँ छोड़नी पड़ती हैं। त्यागके द्वाराही उच्च वस्तुकी प्राप्ति संभव है।

साधन-पथपर सांसारिक सुखकी सामग्रियाँ परित्याग करनी होती हैं। यों तो उच्च वस्तुका महत्त्व ठीक-ठीक समझ लेनेपर निचले सुख अपने आप त्याज्य जान पड़ने चाहिए, पर कभी-कभी इस त्यागमें कष्टका अनुभव होता है। कितना ही कष्ट और

पीड़ा क्यों न हो, उच्च-जीवनके लिए इन नश्वर सुखोंका त्याग करना ही पड़ेगा। गुरुदेवकी प्राप्तिके लिए प्रियसे भी प्रिय वस्तुका त्याग कर सकना चाहिए। त्याग करनेमें अभिमानका अनुभव न होना चाहिए। सरलतासे, स्वाभाविकताके साथ, प्रसन्नमन, देहात्माका दमन करके नश्वर वस्तुओंको त्याग देना चाहिए। तभी हम गुरुदेवके समक्ष खड़े होने योग्य होंगे।

अध्याय ३

प्रथम सूत्र

………दूर करो।

इन छः सूत्रोंमें 'दूर करो' (नष्ट कर डालो) प्रत्येक वार कहा है। नष्ट कर डालनेकी ठीक ठीक क्रिया समझ लेनी चाहिए। किसी बुरे विचार, बुरी आदत या बुरे कामको नष्ट दो प्रकारसे किया जा सकता है। एक तो यह कि यह विचार या अभ्यास बुरा है, बल देकर इसे दूर कर दिया जाय; चिंतनके द्वारा इसे नष्ट किया जाय। परंतु यह ढंग ठीक नहीं; जितनी शक्ति किसी चीज़पर व्यय की जाती है उतनी ही उसकी प्रति-क्रिया भी होती है। एक गेंद जितने जोरसे फेंककर दीवालपर मारा जायगा, उतनेही जोरसे वह उछलकर लौटेगा। यही बात विचार या आदतमें लागू है। जबर्दस्ती उसे हटानेका प्रयत्न करनेसे वह और भी जोरसे लौटेगी।

दूसरा ढंग है बुरे विचारके बदले किसी अच्छे विचारका चिंतन करना। पहिले बुरे विचारके ठीक उल्टे अच्छे विचारपर मनन किया जाय। घमंडके बदले नम्रता, क्रोधके बदले दया, भयके बदले स्नेह, अपवित्रताके बदले पवित्रता पर विचार किया जाय, भक्तिके साथ गुरुदेवको उस गुण विशेषका

प्रकटीकरण मानकर उनका चिंतन किया जाय। मन एक समयमें एकसे अधिक वस्तुपर चिंतन नहीं कर सकता। धीरे-धीरे सद्विचार, सद्गुण, दृढ़ होते जायँगे, और बुरे विचार और दुर्गुण अपने आप छूट जायँगे।

इस प्रकार दूर करदेनेके दो ढंग हैं; एक मारकर और दूसरा आत्मोन्नति द्वारा। जो अपनी निजी उन्नतिके इच्छुक हैं, जिन्हें समस्तके कल्याणकी चिंता नहीं, जो अपने लिए शक्ति संचय करना चाहते हैं, वे दमनका मार्ग अपनाते हैं। वे स्नेह और करुणा तकको भी नाश करडालनेको प्रस्तुत हो जायँगे, यदि उनके शक्ति-संचयमें इनके द्वारा बाधा पड़ती हो। परंतु हमें तो एकात्म्यका मार्ग अपनाना है, हमें तो अत्यंत संवेदनशील बनना है। शिष्यको अपनेको अधिक सजीव बनाना है; संसारके दुख-दर्दके प्रति कोमल और ग्रहणशील होना है; प्राकृतिक नियमसे काम लेते हुए अपने दोषोंको दूर करना और सद्गुणको बढ़ाना है।

दमनके द्वारा छिपे दुर्गुणोंको और भी प्रबल नहीं बनाना है, वरन् सद्गुणोंके द्वारा दुर्गुणोंको दूर करके समाप्त कर देना है। तृष्णाको नष्ट करनेको कहा गया है; भावना या हृदयकी कोमलता को नष्ट नहीं करना है। हमारा वासना-शरीर एक आवश्यक साधन है, उसे नष्ट नहीं करना है, उसे तो शुद्ध करना है। उच्च व्यक्तिके वासना-शरीरमें स्वयं कोई रंग नहीं होता, उसपर तो उच्चात्माका प्रतिबिम्ब जैसा पड़ता है वैसे ही सुन्दर सुन्दर रंग उसमें चमक उठते हैं। उच्चात्माका संबंध देहात्मा (पर्सनैलिटी) से तीन प्रकारसे होता है। उच्च मनका प्रतिबिम्ब निम्न मनपर पड़ता है; बुद्धिका प्रतिबिम्ब वासना-शरीरपर और किसी हद तक आत्माका प्रभाव हमारे भौतिक मस्तिष्कपर पड़ता है।

यह आत्मा और मस्तिष्कका संबंध समझनेमें अत्यंत दुरूह है; परंतु इतना जान लेना चाहिए कि मानवकी इच्छाशक्ति (विल्) अत्यन्त प्रबल शक्ति है। उपयुक्त शिक्षण और साधनाके द्वारा इसके लिए असंभव भी संभव हो जाता है। अधिकांश लोगोंके लिए उच्च मन और निम्न मनके एकीकरणका अभ्यास सबसे सरल पड़ता है, किंतु वासना-शरीर पर बुद्धिका प्रभाव डालकर भी बुद्धिलोकीय (मनके परे) चेतना जागृत की जा सकती है। भक्ति और प्रेमके द्वारा, विना मनकी अधिक उन्नतिं किये हुए भी, बुद्धिलोकीय चेतना जगाई जा सकती है। निम्न मन और कारण-शरीरको विकसित करना तो आवश्यक है ही और कभी न कभी करना ही होगा, किंतु कुछ लोग यह कार्य प्रेम और भक्तिकी सहायतासे अधिक सरलतासे कर सकते हैं। शिष्य अपने गुरुदेवके प्रति अनन्य भक्तिके कारण जितना मनोबल चाहिए उतना विकसित करनेको तत्पर हो जाता है। वह बुद्धिलोकीय चेतनाको कारण-शरीरमें उतारकर उस शरीरको विकसित कर सकता है।

१. महत्वाकांक्षाको दूर करो।

अविकसित मनुष्य तो देह-सुखकी चाहमें ही मस्त रहता है। जब तक मन विकसित नहीं हो लेता, महत्वाकांक्षा जागृत नहीं होती। मनके विकाससे अहंका महत्व बढ़ता है और मानव शक्ति चाहने लगता है, औरोंसे अपनेको बड़ा बनाना चाहता है, सामाजिक और राजनीतिक अधिकारकी आकांक्षा होती है। महत्वाकांक्षाके द्वारा समाज और राजनीतिमें बड़े बड़े काम होते हैं। मनुष्य नेतृत्व प्राप्त करता और अपने अनुयायियों पर शासन करता है।

धीरे-धीरे मनुष्यको इस बाह्य अधिकारकी तुच्छताका ज्ञान होता है और वह इससे अधिक सूक्ष्म प्रकारकी शक्तिकी आकांक्षा करता है। वह लोगोंके मनको जीतना चाहता है, उनके चिंतन और विचारधाराका नियंत्रण और नेतृत्व करना चाहता है। जिनका मन विकसित हो गया है, जो मनस्वी हैं, वे ही इस आकांक्षासे प्रेरित होंगे। अपने लिए आध्यात्मिक उन्नतिकी आकांक्षा एक औरभी ऊँची महत्वाकांक्षा है; सूक्ष्म हो, उच्च स्तरकी हो, पर है महत्वाकांक्षा ही। इसीलिए इस सूत्रकी टिप्पणीमें गुरुदेवने लिखा है कि जो विशुद्ध कलाकार अपनी कलाके प्रेमके लिए परिश्रम करता है; वह कभी-कभी सत्यपथपर उस योगी या साधकसे कहीं अधिक दृढ़तासे स्थिर रहता है, जो योगी या साधक समझता है कि उसने अपना ध्यान स्वार्थसे हटा लिया है, परंतु वास्तवमें जिसने अपनी तृष्णा और अनुभवके क्षेत्रको केवल विशद बनाकर और इस लोककी वस्तुओं से चित्त हटाकर, दूसरे अधिक विस्तृत परलोकके जीवनकी ओर लगा लिया है। योगी या साधक भले ही इस लोकसंबंधी महत्वाकांक्षाका परित्याग कर चुका हो, फिर भी यह संभव है कि उसकी महत्वाकांक्षा बनी हो। वह शासक या संपत्तिशाली तो नहीं होना चाहता, किंतु आध्यात्मिक जगत्‌में वरिष्ठ बनना चाहता है। लोकोत्तर जीवनका ज्ञान प्राप्त करके अब वह अपनी महात्वाकांक्षाको आध्यात्मिक दृष्टिसे औरोंसे बड़े और वरिष्ठ बननेकी ओर ले जाता है। इस महत्वाकांक्षाको भी दूर करना है।

विलगताके भ्रमको दूर करना ही मोक्ष-पथका प्रथम पग है। किन्तु यह आदर्श साधारण मनुष्यको आकृष्ट न करेगा। साधारण व्यक्ति महत्वाकांक्षाके अभावमें आलसी हो जायगा। किन्तु

शिष्य-पथका पथिक, परीक्ष्यमाण शिष्य, इस सूत्रकी साधना पहिले निम्न प्रकारकी महत्वाकांक्षाको नष्ट करके करेगा; सांसारिक वस्तुओंके प्राप्तिकी महत्वाकांक्षाको छोड़कर वह ऊँची आध्यात्मिक वस्तुओंकी आकांक्षा करेगा, ज्ञानकी आकांक्षा करेगा। वह गुरुदेवकी प्राप्तिकी कामना करेगा। हैं ये भी महत्वाकांक्षाएँ, किन्तु इनसे उसे निम्न बन्धनोंको काटनेमें सहायता मिलेगी।

जिस महत्वाकांक्षाको शिष्यको नष्ट करना है, वह उसके विकासकी नीची श्रेणीमें एक उपयोगी वस्तु थी। मानवके व्यक्तित्व-को प्रबल और दृढ़ बनानेका यह एक साधन था। महत्वाकांक्षाकी पूर्तिके लिए मनुष्यको विषय-वासना आदि अनेक नीची वासनाओं का दमन करना होता है; इस प्रकार महत्वाकांक्षासे उन्नतिमें, चरित्रनिर्माणमें सहायता मिलती है। इसलिए सांसारिक मनु-ष्यको यह उपदेश न दिया जायगा कि महत्वाकांक्षाको नष्टकर डालो; परन्तु शिष्यके लिए आध्यात्मिक जीवनमें अग्रसर होनेकी यही कुंजी है। ये सूत्र अधिकारीके एवं शिष्योंके लिए हैं, जनसाधारणके लिए नहीं।

साधारण शिष्ट व्यक्तिके लिए, शिष्य-पथके समीप आये हुए व्यक्तिके लिए भी, कदाचित् यह उचित होगा कि इस सूत्रको इस प्रकार कहा जाय कि निम्न महत्वाकांक्षाओंको नष्ट करो। पहुँच के भीतरकाही आदर्श आकृष्ट कर सकता है, सुदूर उच्चादर्शसे दृष्टि चकाचौंध हो जाती है। इस प्रकार क्रमशः महत्वाकांक्षाकी श्रेणीको बढ़ाते हुए अंतमें उसे सर्वथा नष्ट कर डालनेका अभ्यास करना होगा। निष्काम कर्मका अभ्यास ही इस सूत्रका मर्म है। अपनेको भूलकर लोक-संग्रहमें रत रहना, यही इस साधनाका रहस्य है। समस्त आध्यात्मिक जीवनका, साधनपथका यही

रहस्य है। यह कठिन है अवश्य, पर फिर भी करना है और पूर्णरूपसे करना है।

महात्मा हिलेरिअनकी टिप्पणी यों आरंभ होती है:

> महत्वाकांक्षा पहिला अभिशाप है। जो कोई अपने सहयोगियोंसे आगे बढ़ रहा है, उसे यह मोहित करके अपने पथसे विचलित कर देती है। सत्कर्मोंके फलकी इच्छाका यह सबसे सरल रूप है।

महत्वाकांक्षाकी यह परिभाषा कुछ विचित्रसी लगती है, किन्तु है बात सत्य। उन्नतिके पथपर अहंकार आरम्भमें ही आ घेरता है और फिर मनुष्य औरभी बड़ा बनना चाहता है। अभिमानमें एक प्रकारका सुख है, उस सुखको बढ़ाना चाहता है।

> बुद्धिमान और शक्तिशाली लोग इसके द्वारा बराबर अपनी उच्च संभावनाओंसे स्खलित होते रहते हैं।

इस तथ्यकी सत्यताको सूक्ष्म दृष्टिवाले ही ठीक ठीक समझ पाते हैं। बहुधा ऐसे सत्पुरुष देखनेमें आते हैं जो शिष्यत्वके बहुत समीप जान पड़ते हैं। उनमें प्रायः शिष्यके सभी गुण दिखाई पड़ते हैं। जान पड़ता है कि तनिक और उन्नति करते ही ये गुरुदेवका शिष्यत्व प्राप्त कर लेंगे। फिर आगे चलकर निराशा होती है। ये लोग सांसारिक जीवनमें ही फँसे रह जाते हैं। लौकिक सफलता, सांसारिक महत्वाकांक्षा, उन्हें खींच ले जाती है। आध्यात्मिक दृष्टिसे अनेक होनहार बालक बालिकाओंकी यही गति होती देखी गयी है।

गुरुदेव बुद्धिमान और शक्तिशाली लोगोंकी बात कहते हैं। वे यह नहीं कहते कि उनका पतन हो जाता है या वे बिगड़ जाते

हैं, किन्तु वे उच्च संभावनाओंसे स्खलित हो जाते हैं। जिन बालक बालिकाओंके समक्ष ऐसी उच्च संभावना है, गुरुदेवका आश्रय प्राप्त करने और शिष्यपथपर चलनेकी जिनकी संभावना है, उनके मार्गमें सांसारिक सफलताका प्रलोभन न रक्खा जाय, यही उचित है।

> फिर भी यह बड़ी आवश्यक शिक्षाका साधन है। उसके फल चखते समय मुँहमें राख और धूल बन जाते हैं। मृत्यु और वियोगके समान इससे भी अन्तमें यही शिक्षा मिलती है कि स्वार्थके लिए, अहंके विस्तारके लिए कार्य करनेसे परिणाममें निराशाही प्राप्त होती है।

जब मनुष्यको वांछित फल प्राप्त हो चुकता है, तो बहुधा उसे उससे पूर्ण संतोष नहीं होता। जो कुछ आशा की गयी थी वह पूरी हुई नहीं जान पड़ती। तब मनुष्य सोचता है कि यही शक्ति यदि अनश्वर वस्तुओंकी प्राप्तिमें, आध्यात्मिक साधनमें लगायी होती, तो अधिक अच्छा होता।

> परन्तु, यद्यपि यह प्रथम नियम इतना सीधा और सरल जान पड़ता है, तो भी उसे योंही शीघ्रतासे छोड़कर आगे न बढ़ जाओ। क्योंकि साधारण मानवके ये दोष सूक्ष्म रूपमें परिवर्तित होकर दूसरे ढङ्गसे फिर शिष्यके हृदयमें प्रकट होते हैं।

शिष्यके लिए दूसरे प्रकारके प्रलोभन रहते हैं, उसकी अपनी विशेष कठिनाइयाँ होती हैं। अभिमान यों तो शिष्यमें नहीं होता, क्योंकि गुरुदेवके समक्ष उसे अपनी तुच्छताका ज्ञान बना रहता है। पर यह अभिमान न करनेका भी एक सूक्ष्म अभिमान रहता है,

'मैं कितना नम्र हूँ' इसका भी अभिमान रहता है। शिष्योंके बीच अपनेको वरिष्ठ शिष्य बनानेकी आकांक्षा होती है। परन्तु यह अपनेको बड़े बनानेकी सूक्ष्मसे सूक्ष्म भावना भी महत्वाकांक्षा ही है और इसका विनाश आवश्यक है। अभिमानी व्यक्ति गुरुदेवका शिष्य रह ही नहीं सकता। शिष्यको तो अत्यन्त सरल, नम्र और निरभिमानी होना चाहिए। सूक्ष्म शक्तियोंकी सिद्धि होनेसे अभिमान बढ़नेकी बड़ी आशंका रहती है। किन्तु गुरुदेवका सामीप्य प्राप्त किये हुए शिष्यमें यह अभिमान रहही नहीं सकता।

> यह कहना सहज है कि मैं महत्वाकांक्षा नहीं रखूगा, किन्तु यह कहना सहज नहीं है कि जब गुरुदेव मेरे हृदयका निरीक्षण करेंगे, तो वे उसे सर्वथा शुद्ध पायेंगे।

अपनेको अपनी शुद्धताका सहज ही विश्वास हो जाता है। मुझमें स्वार्थ-परता नहीं है, मुझे महत्वाकांक्षा नहीं है, कह देना सरल है। किन्तु गुरुदेव तो सूक्ष्मसे सूक्ष्म भाव भी जान लेते हैं, उनका निरीक्षण अत्यन्त गहरा होता है; उनसे हमारी छिपी भावनाएँ भी अज्ञात नहीं रहतीं।

> कभी-कभी जो विशुद्ध कलाकार अपनी कलाके प्रेमके लिए श्रम करता है, वह उस योगी या साधकसे सत्य-पथ पर कहीं अधिक दृढ़तासे स्थिर रहता है, जो योगी या साधक समझता है कि उसने अपना ध्यान स्वार्थसे हटा लिया है, परन्तु वास्तवमें जिसने अपनी तृष्णा और अनुभवके क्षेत्रको केवल विशद बनाकर,

दूसरे अधिक विस्तृत, परलोकके जीवनकी ओर लगा लिया है।

कुछ लोग कह सकते हैं कि ऐसे विशुद्ध कलाकार केवल कल्पना-जगत्के प्राणी हैं, उनका वास्तविक अस्तित्व होताही नहीं। परंतु यह सत्य नहीं है; ऐसे विशुद्ध कलाकार भी होते हैं। ऐसे कलाकार सचमुच अपनी कलाके लिए नाना प्रकारके सांसारिक प्रलोभन, पद और प्रतिष्ठाकी प्राप्ति का परित्याग कर देते हैं। इस प्रकारका त्याग उनके विशुद्ध कलाप्रेमका द्योतक है। इस कला-प्रेममें भी एक प्रकारकी उच्च महत्वाकांक्षा छिपी रह सकती है, पर ऐसा कलाकार साधारण महत्वाकांक्षा और लोकलिप्साको बहुत पीछे छोड़ चुका है। आध्यात्मिक साधनामें भी एक अवस्था आती है जब देहात्माकी सभी आकांक्षाओंको मिटा देनेके बाद भी अपनी आत्मिक उन्नतिकी चिंता लोकसेवासे अधिक रहती है। इसीसे कहा है कि एक निःस्वार्थ कलाकार अध्यात्मकी कुछ बात न जाननेपर भी अपनी आत्मविस्मृतिके कारण सत्य-पथ पर अधिक दृढ़तासे स्थिर होता है।

यही हाल आगेके दो अत्यन्त सरल दिखनेवाले नियमोंका है। उनपर मनन करो और अपने हृदयसे सहजही धोखा न खाओ।

गुरुदेव यहाँ दूसरे और तीसरे सूत्रकी बात कह रहे हैं। उसमें जीवन और सुखकी इच्छाको दूर करनेका आदेश है। इन दोनोंके संबंधमें सचेत और सावधान रहनेको वे कहते हैं; क्योंकि मन बड़ाही चतुर है, जोकुछ हम करना चाहते हैं, उसके समर्थनके लिए वह अनेक प्रमाण ढूँढ लेता है।

अभी पथका आरम्भ है, भूल सुधारी जा सकती है। परन्तु यदि इस भूलको साथ लेते चलोगे, तो यह बढ़ेगी और फूले-फलेगी और आगे चलकर इसे मिटानेमें तुम्हें अत्यन्त कष्ट सहन करना होगा।

महात्मा हिलेरिअनकी प्रथम सूत्रकी टिप्पणीके ये अंतिम वाक्य हैं। ज्यों ज्यों मनुष्य आध्यात्मिक पथपर आगे बढ़ता जाता है त्यों त्यों उसके बचे-बचाये दुर्गुण गहराईमें छिपते चले जाते हैं। मान लो स्वार्थके साधारण चिह्न तो मिट गये हैं, पर स्वार्थकी जड़ बनी है। उन्नतिके साथ साथ यह स्वार्थ गहरेमें छिपता जायगा, पर अन्य गुणोंके साथ यह दुर्गुण भी प्रबल होता जायगा। फिर जब यह अपना प्रभाव दिखायेगा तो अधिक हानिकर सिद्ध होगा और इसे मिटानेमें कष्ट भी बहुत उठाना पड़ेगा।

साधकको आत्म-परिष्कारका काम पूरी तौरसे करना चाहिए। आरंभमें स्थूल, वासना और मनोलोकोंमें दोषोंका नष्ट करना सहज-साध्य होता है, परंतु अन्य ऊँची भूमिकाओं पर बचे-बचाये दोष बड़ी कठिनाईसे दूर होते हैं। कारण-शरीर तक गयी हुई महत्वाकांक्षा जन्मजन्मांतर तक बनी रहती है। प्रथम तीन शरीर तो म्रियमाण हैं, प्रत्येक जन्ममें नष्ट होते और नये बनते हैं; परंतु कारण-शरीर वही बना रहता है। इसलिए शिष्यको सावधानीके साथ महत्वाकांक्षाको कारण-शरीर तक न पहुँचने देना चाहिए।

४. जो महत्वाकांक्षी हैं उन्हींके समान परिश्रम करो।

यह वाक्य मूल पुस्तकके क्रमसे पहिलेही ले लिया गया है, क्योंकि वास्तवमें यह चौहान विनीशिअनकी प्रथम सूत्रकी

व्याख्या है। आगे भी हम प्रत्येक सूत्र पर चौहानकी व्याख्या पर इसी क्रमसे विचार करेंगे। सूत्र और व्याख्याको साथ मिलाकर पढ़नेसे अर्थ अधिक बोधगम्य हो जाता है।

दुनियामें लोग जीवन, शक्ति और सुखकेही लिए कार्य करते हैं; इन्हींसे लोगोंको प्रेरणा मिलती है। इनकी प्राप्तिके लिए प्रयत्न करनेसे ही मनुष्यकी शक्तियाँ विकसित होती हैं। यदि इनके प्राप्तिकी आकांक्षा न रह जाय तो साधारणतया मनुष्य अकर्मण्य और आलसी हो जाय; जीवनमें कुछ रस ही न रहे। आध्यात्मिक जीवनके प्रति अनुराग होनेके पहिले यह एक अवस्था आती है। शक्ति, जीवन और शारीरिक तथा इंद्रिय-जन्य सुख पाकर भी आनंद नहीं मिलता और मनुष्यको इन सबसे विरक्ति हो जाती है। कुछ करनेको जी नहीं चाहता। 'किसलिए प्रयत्न करूँ? सब नश्वर है।'

ऐसी दशामें मनुष्य कर्ममें किस प्रकार फिर संलग्न हो? दैवीजीवनसे एकात्म्य करके। दैवीजीवन दानके द्वाराही अपना अस्तित्व बनाये रहता है, ग्रहणके द्वारा नहीं। अकर्मण्यता उस दैवीजीवनसे विलगता है। अकर्मण्य विरक्ति मनुष्यको अपने और दूसरोंके लिए भी व्यर्थ और निरर्थक बना देती है। सांसारिक राग-द्वेषसे प्रेरित रहने पर भी मनुष्य कुछ कर तो रहा था, अबतो सर्वथा अकर्मण्य हो गया। ऐसेही विरक्त व्यक्तिके लिए आदेश है कि जो महत्वाकांक्षी हैं, उन्हींके समान परिश्रम करो। व्यक्तिगत स्वार्थकी प्रेरणा तो रही नहीं, इसलिए अकर्मण्य हो जानेकी आशंका है। सावधान किया जाता है कि महत्वाकांक्षियोंके समान ही परिश्रम करते रहो। जीवनकी कामना नष्ट कर डालने पर भी जीवनका सम्मान करनेकी आज्ञा है। सुखकी कामना नष्ट कर डालने पर भी प्रसन्न बने रहनेको कहा

गया है। नवजीवनका यह नवीन मूलमंत्र है। देहात्माकी महत्वाकांक्षा, जीवनका मोह और सुखकी कामना नष्ट हो गयी; परंतु जीवात्मा प्रयत्न करेगा, जीवनका सम्मान करेगा और प्रसन्न बना रहेगा। जीवात्माका यंत्र बनकर देहात्मा, बिना लौकिक प्रेरणाके, अंतःप्रेरणाके बलसे कार्य करेगा।

जबतक आत्माकी यह अंतःप्रेरणा जागृत नहीं होती, मनुष्य अकर्मण्य बना रहेगा। निम्न उद्देश्य तो नष्ट हो चुके; परन्तु यदि उच्च उद्देश्य जागृत नहीं हुए, तो वह कर्ममें संलग्न कैसे होगा? ईश्वरीय जीवनसे अपना एकात्म्य करकेही, लोक-संग्रह मात्रके लिए, साधक कर्ममें रत होगा। इस सम्बन्धमें भगवद्गीताकी यह शिक्षा ध्यानमें रखने योग्य है; (अध्याय ३— श्लोक १७ से २० तक)

जो मनुष्य आत्मामें ही प्रीति रखनेवाला है और जो आत्मा में ही तृप्त तथा संतुष्ट है, उसको अपने लिए कोई कर्तव्य नहीं है ॥१७॥ इस संसारमें उसको किये जानेसे कुछ भी प्रयोजन नहीं है और न किये जानेसे भी कोई प्रयोजन नहीं है तथा उसका संपूर्ण भूतोंसे कुछ भी स्वार्थका संबंध नहीं है ॥१८॥ (तो भी उसके द्वारा लोकहितार्थ कर्म किये जाते हैं।) इससे तू भी अनासक्त होकर निरंतर कर्तव्य कर्मका आचरण कर; क्योंकि अनासक्त पुरुष कर्म करता हुआ परमात्माको प्राप्त होता है ॥१९॥ जनकादि ज्ञानी जन भी आसक्ति-रहित कर्मद्वाराही परम सिद्धिको प्राप्त हुए हैं। इसलिए लोकसंग्रहको देखता हुआ, तू भी कर्म करनेके ही योग्य है ॥२०॥

गीतामें बतायी हुई स्थिति और भी ऊँची है। हम तो साधन-पथके आरम्भकी चर्चा कर रहे हैं। परन्तु उद्देश्य दोनों का एक ही है, प्रेरणाका उद्गम वही है। अनात्माकी व्यर्थताका

अनुभव हो जानेसे जीव अब आत्माकी पुकारको सुन सकता है; लोकसंग्रहके लिए कर्म करनेको प्रस्तुत हो जाता है; दूसरोंके हितके लिए आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करना चाहता है। अंतमें यह उच्चाकांक्षा भी नष्ट हो जायगी और साधक केवल ईश्वरेच्छाकी पूर्तिका साधन बन जायगा। महत्वाकांक्षी व्यक्तिके समान ही कर्मरत रहनेपर भी उसका उद्देश्य एकमात्र ईश्वरीय जीवनकी नली बनना ही है।

भगवान् कृष्णने ऊपरकी शिक्षामें ईश्वर-प्राप्तिका मार्ग बताया है। आगे चलकर वे कहते हैं कि इस प्रकारकी अवस्थामें अकर्मण्यता नहीं आती, प्रत्युत कर्मरतता और भी बढ़ जाती है।

हे अर्जुन, यद्यपि मुझे तीनों लोकोंमें कुछ भी कर्तव्य नहीं है, और प्राप्त होने योग्य कोई वस्तु भी अप्राप्त नहीं है, तोभी मैं कर्म करता हूँ ।।२२।। क्योंकि यदि मैं सावधान होकर कर्म न करूँ तो सब प्रकारसे मनुष्य मेरे ही बर्तावके अनुसार वर्तने लगें ।।२३।। यदि मैं कर्म न करूँ तो यह सब लोक ही भ्रष्ट हो जाय।

इस प्रकार भगवान् स्वयं अपने कर्म करनेका उद्देश्य बतलाते हैं। सृष्टिका विकास और रक्षण ही उनका एकमात्र उद्देश्य है। यही लोकसंग्रह परमार्थी मानवका भी उद्देश्य होना चाहिए। संभव है कि ऐसा लोकसंग्रही मानव ईश्वरमें आस्था भी न रखता हो, परन्तु लोकहितके लिए वह अपना जीवन उत्सर्ग करनेको तत्पर रहता है। फिर भगवान 'मार्ग प्रकाशिनी' के से शब्दोंमें कहते हैं:

हे भारत, कर्ममें आसक्त हुए अज्ञानी जन जिस प्रकार कर्म करते हैं, वैसे ही अनासक्त हुआ विद्वान भी लोक-संग्रहको चाहता हुआ कर्म करे ।।२५।। ज्ञानी पुरुषको चाहिए कि कर्मोंमें आसक्ति

वाले अज्ञानियोंकी बुद्धिमें भ्रम न उत्पन्न करे। युक्त पुरुष सब कर्मोंको अच्छी प्रकार करता हुआ उनसे भी वैसा ही करावे ॥२६॥

जैसे अज्ञानी आसक्त होकर कर्ममें रत होते हैं, उसी तरहसे ज्ञानी अनासक्त रहकर कर्ममें रत हो, लोकहितके लिए। अज्ञानियोंमें अपनी अकर्मण्यता द्वारा ज्ञानी पुरुष भ्रम न उत्पन्न करे। उनके समक्ष कर्मण्यताका आदर्श उपस्थित करे। न सफलतासे विशेष प्रसन्न हो, और न असफलतासे खिन्न। दोनों ही अवस्था में समरूपसे संतुष्ट।

अपने आप जो कुछ प्राप्त हो उसमें संतुष्ट रहनेवाला, हर्ष शोकादि द्वंद्वोंसे अतीत, ईर्षासे रहित, सफलता और विफलतामें समत्वभाववाला पुरुष कर्म करके भी बंधनमें नहीं पड़ता। अध्याय ४ श्लोक २२।

मनुष्य साधारणतया तीन अवस्थाओंमेंसे होकर निकलते हैं। पहिली अवस्थामें तो मनुष्य लौकिक लाभके लिए कर्म करता है; फिर पारलौकिक लाभके लिए मनुष्य कर्म करता है। बहुतसे धार्मिक जीवन व्यतीत करनेवाले लोग इसी दूसरी अवस्थामें होते हैं। परन्तु एक और ऊँची अवस्था है जिसमें कर्मके ही लिए कर्म किया जाता है, फलके लिए नहीं। कवि और कलाकार बहुधा इसी ऊँची स्थितिको प्राप्त होते हैं। पर इन सबसे ऊँची अवस्था है वह, जब मनुष्य ईश्वरसे एकात्म्य अनुभव करता हुआ विधिविधानकी पूर्तिके लिए कर्म करता है। असफलताके समय ही इस अवस्थाकी ठीक ठीक परीक्षा होती है। सच्चा साधक असफलतासे खिन्न नहीं होता। भगवान् कभी असफल हो ही नहीं सकते। केवल इतना ध्यान रहे कि भक्तकी भूल न होने पाये। यदि अपने भरसक प्रयत्न किया गया है, तो

फिर सफलता-असफलता तो ईश्वरके निर्णयकी वस्तु है। हमें इनसे क्या ?

परन्तु कार्यमें असावधानी न होनी चाहिए। अपनी बुद्धि भर अच्छी तरहसे प्रयत्न किया जाय और फिर शेष हरिइच्छा पर छोड़ दिया जाय। कर्म करनेमें संसारी मनुष्यकी सी संलग्नता और फलके विषयमें पूर्ण विरक्ति—यही साधकका आदर्श है।

अध्याय ४

सूत्र २ से ४ तक

२. जीवनकी तृष्णाको दूर करो।

जिन्हें जीवनकी तृष्णा है, उन्हींके समान प्राणि-मात्रके जीवनका सम्मान करो।

किसी हद तक इस सूत्र पर भी हम ऊपर विचार कर चुके हैं। जो सिद्धान्त महत्वाकांक्षाको नष्ट करनेपर लागू होते हैं, वेही यहाँ भी लागू हैं। शिष्यको वैयक्तिक जीवनकी तृष्णाको दूर कर देना चाहिए। जो कुछ उसके अहंकारको संतुष्ट करता है, जो कुछ उसे व्यक्तिगत सुख देता है, उस सबकी तृष्णा मिट जानी चहिए। सारे संसारमें मानव नाना प्रकारके लोभमें ग्रसित हो जीवनके अधिकाधिक अनुभवके पीछे दौड़ता रहता है। शिष्यको इस तृष्णासे मुक्त होना चाहिए। उसे व्यक्तिगत जीवनको विशद बनानेका मोह छोड़कर, व्यापक उच्च जीवनसे तादात्म्य प्राप्त करनेकी चेष्टा करनी चाहिए। जब व्यक्तिगत जीवनकी समस्त इच्छाएँ शांत हो जाती हैं, तब केवल जगत्की आवश्यकतासे ही आध्यात्मिक व्यक्तिको प्रेरणा मिलती है।

जब अपने लिए व्यक्तिगत जीवनकी आकांक्षाएँ मिट जाती हैं, तो एक खतरा यह रहता है कि कहीं वह दूसरोंके जीवनके

प्रति निर्मम न हो जाय। उनकी आकांक्षाओं, उनके सुखदुःख, स्नेह-वासनाके प्रति सहानुभूति न खो बैठे; उन्हें मूर्ख एवं नश्वर वस्तुओंके प्रति अनुरक्त जानकर उनका तिरस्कार न करने लगे। इसीलिए कहा है 'जिन्हें जीवन-तृष्णा है, उन्हींके समान जीवन का सम्मान करो।'

समस्त जीवन ईश्वरीय जीवनका ही व्यक्त रूप है और अपने स्तर पर उपयोगी और आवश्यक है। ईश्वरकी दृष्टिमें प्रत्येक स्तर और प्रत्येक अवस्था आवश्यक और मूल्यवान है। उसकी दृष्टिमें उच्च-नीच कोई नहीं है; सभी प्रगति-पथ पर हैं। इसलिए साधकको भी यह न भूलना चाहिए और सभी व्यक्त रूपोंमें ईश्वरीय जीवनका सम्मान करना चाहिए। विभिन्नता केवल आकृतिमें, व्यक्त रूपमें है; ईश्वरीय जीवन तो व्यापक है, एकही है। संभावनाएँ सभीकी एकही हैं; व्यक्त और विकसित रूपमें ही विविधता है। साधन-पथका पथिक जीवनको केन्द्रकी दृष्टिसे भी देखता है, और परिधिकी दृष्टिसे भी। परिधिकी दृष्टिसे वह विविधताकी आवश्यकता समझता है और उसका सम्मान करता है; केन्द्रकी दृष्टिसे व्यापक जीवनके दर्शन करता है और विविधतासे भ्रमित नहीं होता। रूपोंकी विविधता विकासकी आवश्यकतानुसार ईश्वर द्वाराही निश्चित व्यक्त स्वरूप है। यदि ईश्वरको वह रूप स्वीकृत है, तो हमें भी उसका सम्मान करना चाहिए।

फलतः जितनीही उच्च श्रेणीका कोई व्यक्ति होता है, उतनाही अधिक उदार और करुणाशील वह होता है। अपनेमें जीवनकी तृष्णा नष्ट कर लेने पर भी औरोंके जीवनका उन्हीके समान सम्मान करता है।

कभी-कभी हम किसी साधारण मनुष्यकी लोभ-वासनाको देखकर कह बैठते हैं 'छिः, कितने खेदकी बात है !'; किन्तु यह खेद तो उसी प्रकारका है जैसे हमें एक चार वर्षके शिशुको देखकर खेद हो कि वह पचीस वर्षके तरुण या पैंतालीस वर्षके प्रौढ़के समान आचरण क्यों नहीं करता। अपनी मूर्खता और दुर्बलता को देखकर हमें अवश्य खेद करना चाहिए, क्योंकि हम मूर्खताको मूर्खता और दुर्बलताको दुर्बलता जान गये हैं और उन्हें त्याग देना चाहिए था, परन्तु औरोंके विकास-शील जीवन की प्रत्येक श्रेणीके प्रति हमें सम्मान-बुद्धि रखनी चाहिए। जो वृत्तियाँ हमारे लिए अनावश्यक और त्याज्य हैं, अभी औरोंके लिए वे आवश्यक और स्वाभाविक हो सकती हैं; इसलिए उनके प्रति सहानुभूति-पूर्ण और सम्मानशील भाव बनाये रखना चाहिए।

३. सुख-प्राप्तिकी इच्छाको दूर करो।

जो सुखके ही लिए जीवन-यापन करते हैं उन्हींके समान सुखी रहो।

विकासके आरंभिक स्तरपर मनुष्य अपनी सारी शक्ति लगाकर सुखकी खोज करता है। यह सुखकी आकांक्षाही मनुष्यको प्रयत्न करनेकी प्रेरणा देती है। इस आकांक्षासे प्रेरित होकर मनुष्य परिश्रम करना सीखता है, शरीरपर अधिकार करना सीखता है, अपनी निम्न वृत्तियोंका निरोध करता है। पर धीरे-धीरे यह शारीरिक सुख-लिप्सा मिटती जाती है और मानसिक सुख आदिकी ओर उसका ध्यान बढ़ता जाता है। इसी प्रकार प्रत्येक श्रेणीपर एक प्रकारके सुखका त्याग करके वह आगेके स्तरके सुखकी अकांक्षा करता है। आगे चलकर शारीरिक, भावनात्मक तथा मानसिक, सभी प्रकारके सुखोंकी आकांक्षा मिट जाती है

और एकमात्र आध्यात्मिक स्तरपर मनुष्यकी दृष्टि केन्द्रित हो जाती है। इस अवस्थामें भी एक खतरा है और यह तीसरा खतरा है; पहिला खतरा था निष्क्रियताका, दूसरा था औरोंकी तृष्णाके प्रति तिरस्कार-बुद्धिका; अब तीसरा खतरा आता है विषाद-पूर्ण एवं शुष्क हो जाने का।

शरीर, भावना और मनके सुखोंसे वितृष्णा हो जानेपर मनुष्य प्रसन्न-वदन तथा सुखी किस प्रकार रहेगा? इस प्रश्नका उत्तर है: आत्मा आनंद-स्वरूप है, इस अनुभूतिका साक्षात्कार करके। 'ब्रह्म सूत्र' में ब्रह्मको आनंद स्वरूप कहा है। साधकको इसीका अनुभव करना है, साक्षात्कार करना है। दु:ख और सुखसे प्रेरित न होकर मनुष्य उदासीन वृत्तिवाला हो जा सकता है; परंतु ऐसा न करके उसे जो सुखके ही लिए जीवित हैं, उन्हींके समान सुखी रहना है।

दु:ख आध्यात्मिक पुरुषोंके जीवनमें बहुधा पाया जाता है। ईसाको 'मैन ऑफ सॉरो' कहा गया है अर्थात् उन्हें दु:ख-मूर्ति कहा जाता है। गौतम बुद्धने संसारके दु:खका अनुभव कर उसे त्याग दिया और फिर दु:खके निदान और निरोधकी खोज की। यही दु:खकी भावना अन्य साधक महापुरुषोंके जीवनमें भी मिलती है। इस लिए साधारण मनुष्य उन्हें दु:खकी मूर्ति समझते हैं। परंतु वास्तविकता यह नहीं है। संसारका दु:ख-कष्ट अनुभव करते हुए भी वे सदा शांत रहते हैं। संसारके दु:ख और पीड़ाके अनुभवके साथ साथ वे जीवनमें निहित आनंदसे विलग नहीं रहते। संसारमें दु:ख और पीड़ा तो है ही, परंतु यह नहीं भूलना है कि आत्मा आनंदमय है। दु:खोंके मध्यमें भी साधक सुखी रहता है; वह जानता है कि दु:ख देहोंका है, देही तो सदैव आनंदमयही है।

कुछ लोग समझते हैं कि किसी भी प्रकारकी सुख-सुविधा वर्जित है। अनेक योगियों तथा ईसाई साधुओंने शरीरको पीड़ा पहुँचाना, कम्बल पहिनना, काँटेदार चौकी पर सोना, पंचाग्नि तापना आदिको धार्मिक कर्तव्य और साधना समझ लिया था। यह भूल है। गीतामें भगवान् कृष्णने स्पष्ट कहा है :

कर्षयन्तःशरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मांचैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्धयासुरनिश्चयान्॥ १७—६॥

'अज्ञानी लोग भूतरचित शरीरको तथा उसमें स्थित मुझको भी सताते हैं; इनके निश्चयको आसुरी निश्चय जानो।'

इसलिए इस सूत्रका यह अर्थ कदापि नहीं है कि हमें अकारण शरीरको तपाना और सताना चाहिए। इसका आशय यही है कि सुखसुविधाके पीछे हमें कर्तव्यपूर्तिमें वाधा न पड़ने देनी चाहिए। आवश्यकता पड़ने पर कष्ट-सहन कर्तव्य है, धर्म है, पर अकारण कष्ट-सहन कोई पुण्यकार्य नहीं। सुख शारीरिक ही नहीं होता, मानसिक और भावना संबंधी सुख भी होता है। बहुतसे लोग शारीरिक सुखकी तो अवहेलना करते हैं, पर भावनाके सुखके अभावमें बहुत दुखी होते हैं; प्रेमका प्रतिदान चाहते हैं, न मिलने पर महान् कष्ट पाते हैं। यह भी सुखलिप्साही है जिससे साधकको मुक्त होना है। मानसिक सुखशांतिके संबंधमें भी यही बात है। कुछलोग इसलिए अशांत-मना रहते हैं कि उनकी संतति उन्हींकी विचारधाराको स्वीकार नहीं करती। एक परिवारमें जन्मलेनेसे ही एकही प्रकारकी मनोवृत्ति होना आवश्यक नहीं है। साधकको इन सब प्रकारकी लिप्साओंके परे होना चाहिए।

पर जैसा ऊपर कह आये हैं, सब प्रकारके सुखोंकी लिप्सासे

परे होकर भी साधकको आनंद-मग्न रहना चाहिए। जीवनका उद्देश्य सुख नहीं है, किंतु सुखी रहना कर्तव्य है। संसारमें लोग दुखी हैं, यह खेदकी बात अवश्य है; पर उनका दुख दूर करनेका उपाय स्वयं दुखी बने रहना नहीं है, वरन् उनका अज्ञान दूर करके, उनकी उच्चतर शक्तियोंको जगाना है। जनसाधारण परिस्थितिके दास बने रहते हैं; उन्हें परिस्थिति पर अधिकार प्राप्त करके उसे बदलनेमें सचेष्ट बनाना चाहिए।

दुख और कष्टके अनेकों कारण रहने पर भी साधकको प्रसन्न मन होकर अपने कर्तव्यमें लगे रहना चाहिए। संसारमें इतना काम करनेको पड़ा हुआं है कि साधकको उदास रहने और दुःखी होनेको अवकाश ही नहीं है।

हृदयके भीतर पापके अंकुरको ढूँढकर उसे बाहर निकालकर फेंक दो। यह अंकुर श्रद्धालु शिष्यके हृदयमे उसी प्रकार बढ़ता और पनपता है जैसे कि वासनायुक्त मानवके हृदयमें। केवल शूरवीर ही उसे नष्टकर डालनेमें सफल होते हैं। दुर्बलोंको तो उसके बढ़ने-पनपने, फूलने-फलने और फिर नष्ट होनेकी राह देखनी होती है। और यह पादप युग युग तक जीवित रहता और बढ़ता-फैलता है। मानवके अनेक जन्म हो चुकनेके बाद यह फूलता-फलता है। जिसे शक्तिके पथपर आरूढ़ होना है, उसे इसको अपने हृदयसे नोचकर निकाल देना चाहिए। और तब हृदयसे रक्तकी धारा बह निकलेगी और मानवका समस्त जीवन गल गया सा जान पड़ेगा। इस कठोर परीक्षाको सहन करना ही होगा; यह परीक्षा जीवनकी नसेनीकी प्रथम

पटियापरही हो या अंततक भी न हो, दोनोंही बातें संभव हैं। किन्तु, हे शिष्य, स्मरण रखो कि इसे सहन करनाही है, और इस कार्यके लिए अपनी शक्तिका संग्रह कर रखो। न वर्तमानमें स्थिर हो, न भविष्यमें; नित्यतामें, शाश्वतमें निवास करो। उस शाश्वतमें यह विषवल्लरी फूलती-फलती नहीं; शाश्वतके चिंतनका वातावरणही जीवनके इस कलंकको नष्ट कर देता है।

चौथे सूत्रके पहिले दो वाक्य तो सूत्र २ और ३ कीही व्याख्या-स्वरूप थे; यह शेषांश प्रथम तीन सूत्रोंपर गुरुदेव (चौहान विनीशिअन) का भाष्य है। यह पापका अंकुर जिसकी चर्चा यहाँ की गई है, पृथकताका भ्रम है। सभी पापोंकी जड़ यही जीवकी मौलिक पृथकताका मिथ्या विश्वास है। इसे हमें क्रमशः नष्ट करना है। पहिले अपने निम्नात्माका एकात्म्य उच्चात्मासे करना है, देहात्माको जीवात्मामें घुला देना है। हममें से अधिकांश लोग इस देहात्माही तक अपना अस्तित्व समझते हैं और इस प्रकार अपनी उच्च संभावनाओंका मार्ग ही रोक देते हैं। स्वार्थभावनाको दूर करके हमें उच्चात्माके मार्गको प्रशस्त करना है।

जीवात्मा अत्यंत सुंदर और विलक्षण है। उसने अपनेको अपने वातावरणके अनुकूल बना लिया है, परंतु यह जीवात्मा भी एक साधन मात्र है। विशुद्धात्माके विकासके लिए इसका निर्माण हुआ है। इस साधनको गढ़ते समय हमने पृथकताके भावको दृढ़ किया; अब यह भाव साधक न होकर बाधक सिद्ध हो रहा है, इसलिए हमें इस भावको नष्ट करना है। यातो इसे फूल-फल कर

धीरे धीरे स्वयं मुरझा कर नष्ट होने दिया जाय और इस प्रकार बहुतसा समय नष्ट किया जाय; और नहीं तो, साहसके साथ आरंभमें ही इसे निकाल कर फेंक दिया जाय।

सभी साधनाके मार्ग इस पृथकताके भ्रमको नष्ट करनेको कहते हैं। कठिनाई यह है कि यही विलगताकी भावना अनेक प्रकारसे हमारे पुष्ट होनेका आधार रही है। जब जीवने व्यक्तित्व धारण किया तब वह दुर्बल था। अभी तक वह समूहात्मा (ग्रूप सोल) का एक अंश रहा था; अब उसे व्यक्तित्व दृढ़ करना था। जंगली जीवनमें उसने शारीरिक बल और सैनिक नेतृत्वका संचय और अभ्यास किया। फिर कुछ ऊँचे स्तरपर उठकर अपने मनोबल, अपनी महत्ताका सुख लूटा; स्वावलंबनकी साधना की और यह साधना पृथकताकी भावनाके दृढ़ होनेके साथ साथ चली।

आगे चलकर यह स्वावलंबनकी भावना अपने उच्चात्माका अवलंबन हो जाती है। हस्त-कौशल, बाहुबल या मानसिक दृढ़ताका उतना सहारा न लेकर, मानव यह अनुभव करने लगता है कि इन सब बाह्य वस्तुओंसे परे एक वस्तु आत्मबल है और यह आत्म-बल दैवी बल है। इस प्रकार हमारा स्वावलंबन ईश्वरावलंबनका रूप धारण कर लेता है और अहंकारका शमन होना आरंभ हो जाता है।

जीवात्माके व्यक्तित्वमें यह पृथकताकी भावना दृढ़ हो गई थी और ऐसा जान पड़ने लगा था मानो यही व्यक्तित्व अमरत्व है। अब हमें सीखना है कि व्यक्तित्वसे परे भी हमारा विशुद्धात्मा परमात्माका स्फुलिंग मात्र है। यह ज्ञान अत्यंत उच्च कोटिका है और हममें से अधिकांशके लिए इसका साक्षात्कार कदाचित् अभी दूर है; किन्तु हम इसकी कल्पना कर सकते हैं

और इस प्रकार अपनेको उसके किंचित् समीप तो ले ही जा सकते हैं।

हमारी स्थिति बड़ी विचित्र है। हमारा अबतक का समस्त विकास इसी पृथकताकी भावनाको दृढ़ करके हुआ है और अब वह अवस्था आ गई है जब यही पृथकता हमारे आगे बढ़नेमें बाधक सिद्ध हो रही है और हमें उसे नष्ट करना है। इसी हेतुसे समस्त आध्यात्मिक साधनामें निःस्वार्थ भाव पर इतना बल दिया जाता है।

परहित बस जिनके जिय माहीं।
तिन कहँ जग दुर्लभ कछु नाहीं ॥—तुलसी

मानवजातिका ध्यान साधारणतया अभी 'निजहित' परही केन्द्रित है, 'परहित'की उसे चिंता कम है। हमें उनकी संकीर्णता और स्वार्थ-लिप्साके प्रति उदार भाव रखना चाहिए और उद्विग्न न होना चाहिए। यदि हमने सौभाग्यसे जीवनका उच्च उद्देश्य समझ पाया है और गुरुदेवका सामीप्य प्राप्त किया है, तो हमें यह न सोचना चाहिए कि हमने ऐसा किया, हमने यह सफलता पायी, वरन् हमें सोचना चाहिए कि अब मेरे सरीखे एक मानवके द्वारा अखिल मानव-जातिका कुछ कल्याण हो सकेगा। प्रत्येक व्यक्तिकी आध्यात्मिक उन्नतिसे समस्त मानवजाति उन्नति-पथ पर अग्रसर होती है।

शाश्वत जीवनका अनुभव हम अभी कर नहीं पाते। उसके लिए हमें प्रयत्न करना है। जिस स्थिति तक हम पहुँच चुके हैं उससे हमें संतुष्ट होकर बैठ जाना नहीं है। कल्पनाके द्वारा हमें भविष्यमें होनेवाली औरभी ऊँची अवस्थाका अनुमान करना चाहिए और फिर उसे मूर्त स्वरूप देनेमें प्रयत्नशील होना चाहिए।

परंतु भविष्यसे इतना प्रलुब्ध न हों कि शाश्वतको विस्मृत कर दें।

महत्त्वाकांक्षा, जीवन-तृष्णा और सुखलिप्साके शमनके बाद भी साधकको कार्यशील रहना है। इन ऐहिक लक्ष्योंका परित्याग कर देने पर भी अकर्मण्य नहीं होना है। यह अकर्मण्यताकी आशंका साधन-पथ और मुमुक्षुत्वके समीप पहुँच जानेपर भी बनी रहती है। सांसारिक उद्देश्य तो उच्छिन्न हो गये, किंतु सृष्टिके व्यापक उद्देश्यसे यदि तादात्म्य नहीं हुआ, तो मनुष्य स्वभावतः अकर्मण्य हो जायगा। इसीलिए विकासक्रम एवं विधिविधानको समझनेका प्रयत्न करना चाहिए। एक बार जब वह समझमें आ जायगा तो बरबस मनुष्य अपनेको उसके प्रति आत्मनिवेदित कर देगा। फिरतो वह व्यक्तिगत मोक्षके बदले इस सृष्टि-क्रमका अंग बन जाना ही अपना लक्ष्य बना लेगा। उसे भगवत्-संकल्पकी पूर्तिमें ही परमानंद और परमशांतिकी प्राप्ति संभव दीख पड़ेगी।

अध्याय ५

सूत्र ५ से ८ तक

५. द्वैतभावको समग्ररूपसे दूर करो।

फिर भी अकेले और अलग खड़े रहो क्योंकि कोई भी देहधारी या जिसे अपनी विभिन्नताका भान है, जोकुछ शाश्वत नहीं है, वह तुम्हारी सहायता नहीं कर सकता।

शिष्य-साधकोंकी इस पुस्तकमें यह उपदेश विशेष रूपसे दिया गया है क्योंकि शिष्यको अकेले और अपने पैरों खड़े होना है। किसी प्रकारकी सहायता उसे शरीरधारीसे, अशाश्वतसे, मिल नहीं सकती।

साधकके सामने दुहरा काम है; एक तो उसे भेद-बुद्धिको दूर करना है और दूसरे उसे अपने भीतर स्थित ईश्वरीय शक्तिका ही एकमात्र आश्रय लेकर अपने पैरों खड़े होना है। उसे आकाशमें स्थित तारेके समान अकेले चमकना है; किसी औरसे मांगे प्रकाशको लेना नहीं है। एकाकीपनमें ही यह अनुभव किया जा सकता है। परन्तु यह एकाकीपनकी भावना भ्रममात्र है; साधक शाश्वत जीवनका ही अंश है। एक और भेद भी है। अपनी दुर्बलताके कारण भी साधकको एकाकीपनकी आवश्यकता

है। आस-पासके लोग अभी सांसारिक जीवन व्यतीत कर रहे हैं—जिन वस्तुओंसे वे आकृष्ट, जिन भावनाओंसे वे अनुप्राणित होते हैं, साधकको उन्हें छोड़ चुकना चाहिए। उनके सहवाससे साधक फिर उसी निम्नस्तरके प्रति खिंच सकता है। इसलिए अलग रहना, उनसे दूर रहना उपयोगी है। हम उन्हीं दुर्बलताओंसे विशेषतया घृणा करते हैं, जिनका कुछ छिपा आकर्षण अभी हमें है, जिन्हें हमने हालहीमें छोड़ा है। जब हम उनसे सर्वथा मुक्त हो जायँगे, तब उस प्रकारके दुर्बल लोगोंसे हम भागेंगे नहीं।

पर दुर्बलतासे घृणा करते हुए भी दुर्बलकी सहायता करनी है। अपनी पूर्वावस्थाकी स्मृतिसे हमें दूसरोंकी सहायता करनेमें सुविधा होती है। जब हमें राग और द्वेष दोनोंही नहीं रह जाते, तभी हम किसीकी सच्ची सहायता कर सकते हैं। साथही जबतक हम इस सत्यका अनुभव और साक्षात्कार नहीं कर लेते कि दुर्बलतामें फँसा हुआ बंधु हमाराही अंग है, संसारका पाप-पंक हमारा पाप-पंक है, तबतक हम सच्ची सहायता नहीं कर सकते।

प्रलोभनमें पड़े हुए साधकको सोचना चाहिए कि मेरे पतनसे मानव जातिका पतन हो रहा है। इस विचारसे प्रलोभनपर विजय पानेमें सहायता मिलेगी।

इस सूत्रका अर्थ बड़ी कड़ाईसे न करना चाहिए। बंधुत्वकी अत्यन्त प्रबल भावना रखते हुए भी इस स्तरपर पृथकताके अस्तित्वको स्वीकार करना पड़ेगा। गुप्त-विद्याका कोई भी सिद्धांत अथवा तथ्य बुद्धि-विरोधी या तर्क-विरोधी नहीं होता है। यदि कोई तथ्य ऐसा जान पड़ता है, तो केवल इसलिए कि हमारे समक्ष सारी बातें स्पष्ट नहीं होतीं ; हम वस्तु-स्थितिको ठीक ठीक नहीं जानते।

हमारे स्थूल शरीर अलग अलग अवश्य हैं, पर जितनी पृथक्ता जान पड़ती है, उतनी है नहीं। एककी बीमारीका प्रभाव दूसरेपर पड़ता है। वासना-शरीरके रोग भी संक्रामक होते हैं और आसपासके लोगोंपर प्रभाव डालते हैं। सभा-समूहोंमें कितनी जल्दी हमारे भावावेग फैलते हैं! कहते हैं कि स्थूल शरीरसे डेढ़ फुट चारो ओर साधारण मनुष्यका वासना-शरीर फैला रहता है, कभी-कभी और अधिक दूर तक। जब हम एक दूसरेसे सटकर बैठते हैं, तो एक दूसरे पर भावावेगोंकी प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक और अवश्यंभावी है। यही दशा हमारे मनोमय कोष तथा कारण शरीर की है। प्रत्येक व्यक्तिके ये कोष अलग अलग होते हैं, पर एक दूसरेको प्रभावित किया करते हैं।

बुद्धि लोकमें तो पृथकताका भाव रहता ही नहीं। चेतना अलग अलग रहते हुए भी ज्यों ज्यों हम उसके भिन्न भिन्न स्तरों पर ऊँचे चढ़ते जाते हैं, हमें समस्त मानव जातिकी चेतनाकी अभिन्नताका भान होता जाता है।

निर्वाण-लोकमें हमें पूर्णतया एकात्म्यका भान होता है। यह पूर्ण एकताकी भावनाकी अनुभूति बुद्धिलोकमें भी नहीं होती, किन्तु निर्वाण-लोकमें होती है। किन्तु ये सब अत्यन्त ऊँची अवस्थाके अनुभवकी बातें हैं। हमारे लिए आवश्यक और हमारी पहुँचके भीतरकी बात यह है कि हम पूर्ण निःस्वार्थ भाव का अभ्यास करें और यह खूब समझ लें कि बिना अहंभावको नष्ट किये, बिना 'परहितेरत' हुए बुद्धिलोकीय चेतनाके समीप भी पहुँचना असंभव है।

हमारी पृथकताकी भावना नाना रूपोंमें प्रकट होती है। 'दूसरों' पर अधिकार पानेकी इच्छा इसका अत्यन्त व्यापक रूप

है। हम दूसरोंसे अपनी सम्मति मनवाना चाहते हैं; अपना बौद्धिक दबदबा उनपर जमाना चाहते हैं। स्थूल कार्य भी और लोग हमारे ही ढंग पर करें, ऐसी हमारी इच्छा रहती है। ये सब हमारी भेद-बुद्धिके ही लक्षण हैं। अपने विचारों द्वारा हम दूसरोंके विचारोंपर आधिपत्य किया चाहते हैं। ये सब इसी विलगता महापापके अंश हैं।

जब इन दोषोंसे हम मुक्त हो जाते हैं, तब भी अपने आध्यात्मिकताकी वरिष्ठताका मोह बना रहता है। परमार्थवाद भी यदि कोई स्वीकार करे, तो हमारे ढंगका। यदि हमें कुछ प्राप्त हुआ है, तो उसे औरोंको देनेकी इच्छा अनुचित नहीं, उचित ही है; परन्तु इस इच्छामें आधिपत्यकी भावना न रहनी चाहिए। यह भावना तो उसी भेदबुद्धिके कारण है। जब भेदबुद्धि दूर हो जायगी तो परहित साधन, दूसरेके भारको हल्का करना, आत्महित जान पड़ने लगेगा और इस चेष्टामें आधिपत्य और दबदबेका लेशमात्र न रह जायगा।

अकेले अपने पैरों खड़े होनेसे आशय है, किसी अन्यका आश्रय न लेना। अपने भीतर ही आश्रयका, समस्त सहायता और बल का स्रोत है। यों तो 'दूसरा' कुछ है, यह भावना ही मिथ्या और भ्रममात्र है; क्योंकि समस्त जीवन एक है; किन्तु इस एकताके साक्षात्कार करनेके लिए अपने भीतर स्थित भगवान्से एकात्म्य प्राप्त करके अन्य समस्त देहधारियोंसे अलग खड़े होना है। आत्माकी नित्यता और रूपोंकी अनित्यताका अनुभव होनेपर पृथकताका भ्रम भी दूर हो जायगा और पराश्रयका मोह भी मिट जायगा।

एकाकीपनका अनुभव अत्यन्त असह्य जान पड़ता है, वह

अवस्था जिसमें बाहरसे भगवानके जीवनके कम्पन भी स्पर्श करते नहीं जान पड़ते। यह अवस्था होती है अंतमें वाममार्गी साधककी, जो अनेक जन्मों तक अपनेको विकास-क्रमके मङ्गलमय दैवी विधानके प्रतिकूल स्थिर करनेकी चेष्टा करता है। शिष्य-साधकको इस 'अवीची' अवस्थाको प्राप्त पथभ्रष्ट व्यक्तिके प्रति भी सहानुभूति होनी चाहिए; यह पाठ पढ़ सकनेके लिए ही उसे अपने जीवनमें एक वार इस एकाकीपनका अनुभव अपेक्षित है। इस अनुभवकी स्मृति ही उसे यह सहानुभूति प्रदान करेगी। किन्तु इस अकेलेपनमें भी अपृथकताकी भावना, आत्मा ईश्वर ही है, यह ज्ञान हमें वल देता रहेगा। बिना इस प्रकारके आत्मावलंबनके हम उच्च प्रकारका सेवा-कार्य करनेमें समर्थ न होंगे।

टिप्पणी: यह न सोचो कि तुम बुरे मनुष्य या मूर्ख मनुष्यसे दूर रह सकते हो। वे तो तुम्हारेही रूप हैं; यद्यपि तुम्हारे मित्र अथवा गुरुदेवसे कुछ कमही वे तुम्हारे रूप हों, फिर भी वे हैं तुम्हारेही रूप। परन्तु यदि तुम किसी बुरी वस्तु अथवा बुरे मनुष्यसे भेदभावकी भावना रखोगे और उस दुर्भावनाको अपने हृदयमें बढ़ने दोगे, तो तुम ऐसे कर्म-फलको जन्म दोगे जो तुम्हें उस वस्तु या व्यक्तिसे तबतकके लिए बाँध देगा जबतक तुमको यह ज्ञान न हो जाय कि तुम किसीसे अलग नहीं हो सकते!

महात्मा हिलेरिअन लिखित एक लम्बी टिप्पणीका यह प्रथमांश है। यों तो हम सभी स्वीकार करते हैं कि समस्त मानवजाति एक बड़ी बिरादरी है और वास्तवमें एकही है। परन्तु गुरुदेव यहाँ बताते हैं कि हम सबकी एकताके इस अनुभवमें

श्रेणियाँ होती हैं; गुरुदेव और मित्रके साथ हमारी एकात्मता दुराचारी या बुरे लोगोंसे कहीं अधिक घनिष्ट होती है। बन्धुत्व का अर्थ बराबरी नहीं है। परिवारमें सब बन्धु होते हुए भी बड़े-छोटे होते हैं। बन्धुत्वमें विविधता तो निहितही है; अवस्था-भेद और कार्य-भेद तो रहताही है।

गुरुदेवसे अपने एकात्म्यका दावा तो सभी शिष्य बड़ी प्रसन्नतासे करेंगे। किन्तु एक अपराधीसे, एक शराबीसे, एक पतित मनुष्यसे वैसीही एकात्मता स्वीकार करनेको लोग जल्दी प्रस्तुत न होंगे। परन्तु मानवजाति तो एक है; छोटे-बड़े सभी एकही जीवनके विविध रूप हैं। हमसे बड़े भी हमारे अंग हैं जिनके प्रति हमें अग्रसर होना है, परन्तु हमसे छोटे भी तो हमारे ही अंग हैं, जिन्हें कुछ झुक कर हमें ऊपर उठाना है। पहिले हमें उनके प्रति सम्यक विचार रखना होगा। उनसे झिझकना या घृणा करना त्यागदेना होगा। वैद्य गंदेसे गंदे रोगीकी भी परिचर्या करता है। किसी कर्तव्यशील वैद्यको अपने रोगीसे घृणा नहीं होती। वह रोगको शत्रु और रोगीको अपने स्नेहका पात्र समझता है। यही भाव हमारा भी होना चाहिए; पापके प्रति विराग, किंतु पापीके प्रति अनुराग। दोनोंको अलग करके देखना कभी-कभी कठिन जान पड़ता है अवश्य, किंतु इसका अभ्यास करना चाहिए।

एक और बात न भूलनी चाहिए और यह हम ऊपर भी कह आये हैं। जिन बातोंसे हमें विशेष घृणा होती है, वेही ऐसे दोष होते हैं जिनके प्रति अभी हममें कुछ प्रवृत्ति बनी है, जिनसे हम सर्वथा मुक्त नहीं हुए हैं। बुरे और पापमय वातावरणमें जाते समय कभी-कभी अपनी रक्षाके लिए हमें एक प्रकारका सूक्ष्म आवरण (कवच) अपने ऊपर डाल लेना होता है।

परंतु यह आवश्यकता हमारी दुर्बलताकी सूचक है। सबल लोग स्वच्छंद रीतिसे उस वातावरणमें प्रवेश कर सकते हैं, पर हमारे लिए, अपनी दुर्बलताके कारण, सुरक्षाका साधन आवश्यक है। यह सूक्ष्म आवरण ध्यानके द्वारा मनोबलसे निर्मित किया जाता है।

पापी और मूर्खसे भी पृथकताका भाव न रखनेका आशय यह नहीं है कि हम सदा उन्हींके साथ उठें बैठें। इससे हम उनकी कुछ बहुत सेवा नहीं कर सकते। महात्मागण हमारे हितेच्छु हैं, किंतु वे सदैव हमारे संपर्कमें नहीं रहते। हमारे आसपासके दूषित वातावरणको शुद्ध करनेमें वे अपनी शक्तिका अपव्यय नहीं करना चाहते। हमें भी उसी प्रकार अपनी शक्तिका सद्व्यय करना चाहिए, अपव्यय नहीं। बुद्धिसे काम लेकर, आवश्यकता पड़ने पर सभी जगह जानेको प्रस्तुत रहते हुए भी, अकारण कुसंगमें न जाना चाहिए।

> स्मरण रहे कि सारे संसारभरका पाप और उसकी लज्जा तुम्हारी अपनी लज्जा, तुम्हारा अपना पाप है। तुम संसारके एक अंग हो और तुम्हारे कर्मफल उस महान् कर्मफलसे अकाट्यरूपसे संबद्ध हैं।

अपनी स्थूल चेतनामें हम इसे अनुभवगम्य नहीं कर पाते, किंतु बुद्धिलोकमें इसकी सत्यताका ज्ञान होता है। संसारके भले और बुरे दोनों प्रकारके कर्मोंके हम भागीदार हैं। संसारके पाप और लज्जाको दूर करना हमारा अपना कर्तव्य है। साथही किसी पुण्यात्माकी आध्यात्मिक सफलताका भी भागीदार होना हमारा गौरव है; क्योंकि एक मानवके उच्च पदकी ओर अग्रसर होनेसे सारी मानव-जाति प्रगति-पथ पर, अत्यंत थोड़ा ही क्यों न हो, अग्रसर होती है।

ज्ञान प्राप्त कर लेनेके पहिले तुम्हें सभी स्थानोंमेंसे होकर निकलना है; अपवित्र और पवित्र स्थानोंसे एक ही समान। इसलिए स्मरण रहे कि जिन मैले वस्त्रोंसे आज तुम दूर भागते हो, वे विगत भूतमें कदाचित् तुम्हारे ही वस्त्र रहे हों या आनेवाले भविष्यमें ही वे तुम्हारे वस्त्र हों। जब वह वस्त्र तुमपर डाला जाय तब यदि तुम उससे घृणाके साथ दूर भागोगे तो वह तुमसे और भी अधिक चिपकेगा। पवित्रताका दंभ करनेवाला मनुष्य अपने लिए पंकलिप्त शय्या प्रस्तुत कर रहा है। पापसे बचो, क्योंकि यह बचना ही उचित है; इसलिए नहीं, कि तुम्हारी पवित्रताकी रक्षा हो और तुम शुद्ध बने रहो।

महात्मा हिलेरिअनकी टिप्पणीका यह अंतिम अंश है। बहुधा लोग इसका यह अर्थ लगाते हैं कि प्रत्येक व्यक्तिने कभी न कभी सब प्रकारके पाप किये होंगे। यह अर्थ है नहीं; समझदार व्यक्ति दूसरोंके अनुभवसे भी बहुत-कुछ सीख लेता है, सब प्रकारके पाप करके ही देखना आवश्यक नहीं है। अपनी असभ्य बर्बर अवस्थासे वर्तमान अवस्था तक पहुँचनेमें हमारे अनेक जन्म हो चुके हैं और उन जन्मोंमें हमने नानाप्रकारके कर्म भी किये ही होंगे, किंतु यह आवश्यक नहीं कि सभी प्रकारके जघन्य कृत्य हमने कियेही हों। एकही प्रकारके एक अनुभवसे समझदार जीव उस प्रकारकी अन्य भूलोंसे बचनेका पाठ पढ़ लेता है।

एक बात और भी है; जब मनुष्य बुद्धिलोकीय चेतनाको प्राप्त कर लेता है, तब औरोंके अनुभव भी उसके अपने अनुभवके ही समान हृदयंगम हो जाते हैं। बुद्धिलोकीय चेतना द्वारा जैसे

गुरुदेवसे हमारा एकात्म्य सुलभ हो जाता है, उसी प्रकार पापी और अपराधीसे भी हमारी एकात्मता संभव हो जाती है। बुद्धि-लोकीय चेतना द्वारा हम सहजही दूसरोंकी चेतनासे एकात्म्य करके उनके अनुभवोंसे लाभ उठा सकते हैं। इस प्रकारके अनुभवसे ही हम उनकी सहायता करने योग्य बनते हैं। करुणा और सहानुभूति से द्रवित हृदयवाला साधक दूसरोंकी कठिनाइयों और प्रलोभनों को ठीक ठीक समझ पाता है और उनकी सहायता कर सकता है। इस प्रकार उनके 'मलिन वस्त्र' उसके अपने वस्त्र हो जाते हैं और उनका पाप स्वयं अपना पाप। समस्त जीवन एक है और प्राणि-मात्रके प्रति हमारी यही मनोदृष्टि रहनी चाहिए।

६. संवेदनकी इच्छाको दूर करो।

> इन्द्रियजन्य ज्ञानसे शिक्षा लो और उसका निरीक्षण करो क्योंकि आत्म-ज्ञानका पाठ इसी प्रकार आरंभ किया जा सकता है और इसी प्रकार तुम इस सीढ़ीकी पहिली पटिया पर अपना पैर जमा सकते हो।

साधकको अपने इंद्रियजन्य अनुभवोंकी क्रियाका निरीक्षण करना चाहिए, अपने विचारोंके क्रमका भी अध्ययन करना चाहिए, क्योंकि तभी वह अपनेको समझ सकेगा। अपने विचारों और इंद्रियजन्य संवेदनोंसे अपनेको अलग करके उनका निरीक्षण करना चाहिए। इस प्रकारके आत्मनिरीक्षणसे मनुष्य अपने अनुभवोंके बंधनसे छूटता है। इस प्रयत्नमें वह इन भोगों और संवेदनोंके वशमें नहीं रहता और उनके बलको समझ सकता है। यह अनुभव उस समय अत्यंत उपयोगी और सहायक सिद्ध होता है जब हमारी सुप्तप्राय वासनाएँ कभी कभी किसी संपर्क विशेष या वातावरण विशेष के कारण जाग उठती हैं। साधक अपने पूर्व

आत्मनिरीक्षणके बलपर कह सकता है, 'तुम मेरे स्वरूप नहीं हो; तुमतो मेरे मृत 'अहं'की छाया हो; दूर हो जाओ मेरे पाससे।' साधक जानता है कि शीघ्रही यह मृत मोहोंका नवजागरण असंभव हो जायगा और उसके ऊपर उनका कुछ भी जोर न चल सकेगा। 'सार-शब्द' (द वॉएस ऑफ द साइलेन्स) में वासनाके संबंधमें कहा है: 'सचेत रहो, कहीं यह मृतवासना फिर जाग न उठे।' संवेदन और विचारोंके क्रमको समझनेवाला साधक उनके असली स्वरूपको जानता है और उनके वशमें नहीं होता।

संवेदनकी लहरें चारो ओर उठ रही हैं। यदि हम उनके प्रवाहसे स्वयं विचलित नहीं होते, तभी हम किसीकी सहायता कर सकते हैं। जब हम उनके मध्यमें एक चट्टानके समान स्थिर रह सकते हैं, तभी हम दूसरेको सहारा दे सकते हैं। काम, क्रोध, द्वेष, डाहका प्रवाह जब आता है तब साधारण अज्ञानी व्यक्ति उन्हें अपनाही स्वभाव समझकर उनके साथ बह जाता है; परंतु आत्मज्ञानी साधक उन्हें बाह्य वस्तु जानता हुआ उनके प्रवाहमें बहता नहीं; जिसने अपनेको आत्मस्वरूप जान लिया है, जो इन संवेदनोंके ऊपर अपने अधिकारको जानता है, वह उनके वशमें नहीं होता।

दूसरोंके आवेगों और संवेदनोंका भी निरीक्षण करके हमें मानवस्वरूपका ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। युद्धकालमें नाना प्रकारके भावावेग युद्धमें भाग लेनेवाले देशोंमें उठते हैं। हमें उनसे अपनेको सुरक्षित रखना चाहिए। झूठे देश-प्रेमके आवेगमें विरोधी देशोंके प्रति अन्याय या घृणाके भावोंको अपनाना न चाहिए।

संवेदन और आवेगका अध्ययन उनसे पृथक रहकरही किया जा सकता है, उनसे एकात्म्य करके नहीं। लोग हमको उदासीन और शुष्क समझ सकते हैं, किंतु हमारा भाव तो वही है जो बड़े बूढ़ोंका बच्चोंके मोह-रोषके प्रति होता है। बच्चोंसे सहानुभूति रखते हुए भी लोग उन्हींकी तरह विचलित नहीं हो जाते।

७. उन्नतिकी आकांक्षाको दूर करो।

फूलके समान ही बढ़ो और विकसित हो; फूलको बढ़ने फूलनेका भान नहीं रहता, किंतु वह अपने आत्माको वायुके समक्ष उन्मुक्त करनेको उत्सुक रहता है। तुम भी उसी प्रकार शाश्वतके प्रति अपने आत्माको खोल देनेको उत्सुक रहो। परंतु शाश्वत ही तुम्हारी शक्ति और तुम्हारे सौन्दर्यको आकृष्ट करे, उन्नतिकी आकांक्षा नहीं; क्योंकि शाश्वतके आकर्षणसे तो तुम पवित्रताके साथ बढ़ोगे, पनपोगे, किंतु व्यक्तिगत उन्नतिकी बलवती कामना तुमको केवल कठोर ही बना देगी।

साधन-पथ पर आगे चलकर साधक अपनेको शाश्वतके प्रति उन्मुख और उन्मुक्त होता हुआ तथा उसके सौंदर्यका अधिकाधिक साक्षात्कार करता हुआ अनुभव करेगा। तब उसे अपने बंधुसे अधिक उन्नतिशील होनेकी इच्छा न होगी। किंतु उस स्थिति तक पहुँचनेके पहिले यह भय बना रहता है। यदि अपनी उन्नतिको वह अलग अपनी व्यक्तिगत उन्नति समझता है, तो पतनका भय बहुत है। इस भयसे बचनेका उपाय यही है कि अपनी उन्नतिका विचार छोड़ दिया जाय; दैवी जीवन और दैवी संकल्पकी पूर्तिका ही ध्यान रहे।

पुष्पके समान बढ़ने फूलनेको कहा गया है, क्योंकि पुष्पको कोई स्वार्थकी भावना नहीं रहती। वह अपनेको विकसित करता है और फिर नष्ट हो जाता है, परंतु इस प्रकार पुष्पका वंश समुन्नत होता है। फूलके नष्ट हो जाने परही फल प्रकट होता है, फूलका उसमें कोई निजी हित नहीं रहता। उसी प्रकार हमें भी बढ़ना फूलना चाहिए; हम बढ़ें या मिट जायँ, पर भगवत्संकल्पकी पूर्ति हो, यही एक मात्र उद्देश्य रहे। यदि हम सद्गुण और सामर्थ्य चाहते हैं, तो ईश्वरके कार्यके लिए अधिक उपयोगी होनेके ही लिए। अपनेको भूल कर ही व्यक्ति समष्टिके साथ आगे बढ़ता है और पवित्रताके साथ विकसित होता है।

अध्याय ६

सूत्र ९ से १२ तक

अभी तक हमें नकारात्मक आदेश ही दिये गये हैं। तृष्णा आदिको दूर कर देनेको कहा गया है। अब हमें उन बातोंको जानना है जिनकी हमें कामना करनी है और जिनका अभ्यास करना है। 'कामना' के संबंधमें बड़ा मतभेद है। सभी उपनिषद् भी इसपर एकमत नहीं हैं। कुछ सद्‌कामनाओंकी अनुमति देते हैं, किंतु कुछ किसी प्रकार की भी कामनाको वर्ज्य बतलाते हैं। वास्तवमें इन दोनों दृष्टियोंमें मौलिक विरोध नहीं है। पृथक् भावसे कामना वर्ज्य है; लेकिन स्वार्थ भाव छोड़ कर, लोकहितके लिए सत्कामनाएँ श्लाघ्य हैं।

९. जो तुम्हारे भीतर है, केवल उसीकी इच्छा करो।

क्योंकि तुम्हारे भीतर समस्त संसारका प्रकाश है, वही प्रकाश है जो साधनपथको प्रकाशित कर सकता है। यदि तुम उसे अपने भीतर नहीं देख सकते, तो उसे और कहीं ढूँढ़ना व्यर्थ है।

यह भाव सभी धर्मोंमें पाया जाता है। यदि मनुष्य अपने देवत्वको नहीं पहचान पाता, तो फिर उसके आध्यात्मिक उन्नतिकी

कोई आशा नहीं। ज्ञानमार्गी ईसाई (नॉस्टिक क्रिश्चियन) लोग भी मानवके भीतर बैठे इस ऐश्वर्य, इस देवत्वको स्वीकार करते थे। प्राचीन मिश्र देशके आचार्य 'गुप्त प्रकाश', 'गुप्तकार्य' की चर्चा करते थे। यह प्रकाश आवरणोंसे ढका है अवश्य, और यह हमारा काम है कि उन आवरणोंको हटाकर प्रकाशको चमकने दें।

यह हमारी भूल है जो हम कहीं दूर ढूँढने जाते हैं। गुरुदेव हमें आत्मोन्नतिका मार्ग बता सकते हैं, किन्तु प्रयत्न तो हमें ही करना होगा और उन्नतिका स्रोत हमारे भीतर ही है। यदि हमारे भीतर प्रकृतिके सौंदर्यका प्रतिबिम्ब नहीं प्रकट होता, यदि उस संगीतकी प्रतिध्वनि हमारे हृदयसे नहीं उठती, तो सारा सौंदर्य, सारा संगीत हमारे लिए नहींके समान है। जब हम अपनेको ईश्वरांशी समझ लेंगे तभी हमारे भीतर स्थित ईश्वर बाह्य जगत्के ईश्वरके दर्शन कर सकेगा। किसीने ठीकही कहा है कि अपने भीतर स्थित ईश्वरके अस्तित्वसे मुकर जाना ही घोर नास्तिकवाद है।

१०. जो तुमसे परे है, केवल उसीकी इच्छा करो।

वह तुमसे परे है, क्योंकि जब तुम उसे प्राप्त कर लेते हो, तो तुम्हारा 'अहं' नष्ट हो चुकता है।

ईसाई धर्ममें ठीक इसी प्रकारकी बात कही है। 'जो अपने जीवनको प्राप्त कर लेता है, उसे खो बैठता है और जो मेरे लिए अपने जीवनका दान करेगा, वह उसे पुनः प्राप्त करेगा।' यह अनुभव प्रत्येक स्तर पर होता है। उच्च जीवनकी प्राप्ति होनेके पहिले निम्न जीवनका त्याग करना हो पड़ता है। बिना उसे परित्याग

किये उच्चजीवन प्राप्त नहीं होता। भावात्मक जीवनसे मनोमय जीवनकी ओर, फिर उससे उच्च चेतनाकी ओर—एकको छोड़कर दूसरेकी प्राप्ति होती है। निरन्तर हमें अपने वर्तमानसे परे भविष्यकी ओर बढ़ना होता है और प्रत्येक बार हम कुछ खोतेसे जान पड़ते हैं, परन्तु यह खोना प्राप्तिके ही लिए है। ईश्वरसे एकात्म्य प्राप्त करनेमें यही बात होती है; यह एकात्म्य भी क्रमशः होता है; किन्तु किसी भी अवस्थामें हमारा निजी अस्तित्व नष्ट नहीं होता, वह तो और विशाल होता जाता है। संकीर्णताका विनाश होकर विशालताकी वृद्धि होती है।

> ११. जो अप्राप्य है, केवल उसीकी इच्छा करो।
>
> वह अप्राप्य है, क्योंकि पास पहुँचने पर वह बराबर दूर हटता जाता है। तुम प्रकाशमें प्रवेश करोगे, किंतु तुम ज्योतिको स्पर्श कदापि न कर सकोगे।

इसका यह अर्थ नहीं कि जिस उच्चजीवनको हम प्राप्त करना चाहते हैं वह अप्राप्य है; यह सूत्र तो इस बातको स्पष्ट करता है कि प्रत्येक चोटीपर चढ़नेसे आगे और चोटी दीखती है। ईश्वरसे हमारा अधिकाधिक एकात्म्य होता जायगा किन्तु फिर भी हम उस शुद्ध चैतन्य स्वरूप अग्निशिखासे सर्वथा एक न होंगे। 'आवरण पर आवरण खुलते जायँगे, फिर भी आवरण शेष रहेगा।' हमारी प्रगतिकी कोई सीमा नहीं है और यह प्र गति निश्चित तथा अवश्यंभावी है।

अध्याय ७

सूत्र १३ से १६ तक

१३. शक्तिकी उत्कट इच्छा करो।

इस सूत्र पर चौहान विनीशिअनकी व्याख्या है :—

> और जिस शक्तिकी कामना शिष्य करेगा वह ऐसी शक्ति होगी जो उसे लोगोंकी दृष्टिमें बिल्कुल नगण्य बना देगी।

जो शक्ति हमें औरोंकी दृष्टिमें सर्वथा नगण्य बना दे, वह आत्म-त्याग, आत्म-विस्मृतिकीही शक्ति है—कर्तव्यको बिना किसी लोकेषणाके करना। लोग यश चाहते हैं, सबके आगे रहना चाहते हैं। यों देखनेमें तो यह चाहे बहुत बड़ी बात न जान पड़े, पर इस यश-लिप्साका अर्थही है कि हम अभी अपने निम्नात्मासे दूर नहीं हुए हैं, उसे भूले नहीं हैं।

शिष्य तो किसी कार्यके लिए प्रशंसा नहीं चाहता; उसे इसकी भी चिन्ता नहीं रहती कि कार्य करता कौन है; बस कार्य होना चाहिए, कोई भी करे। आवश्यकता पड़ने पर वह आगे बढ़कर नेतृत्व करनेको भी तत्पर रहता है, परन्तु उसके यश अथवा श्रेयके लिए नहीं, काम हो जाय इसलिए। परिणामकी चिन्ता तो

होनी ही नहीं चाहिए। समस्त साधनाका आधार है आत्म-विस्मृति और निष्काम कर्म। कुछ लोग आत्मोन्नतिकी चिन्तामें लगे रहते हैं; अवश्यही आत्मोन्नतिकी चिन्ता, धन और यशकी चिन्तासे अच्छी है; किन्तु है यह भी स्वार्थचिन्ताही, केवल कुछ ऊँचे प्रकार की।

जब कारण-शरीरके जीवनका कुछ ज्ञान हो जाता है, तो बड़ी उपयोगी संभावनाएँ मनुष्यकी दृष्टिके सामने आ जाती हैं। तब उसे निश्चय करना पड़ता है कि क्या करें और क्या न करें। अपने उन्नतिकी चिन्ता छोड़कर गुरुदेवके कार्य तथा ईश्वरीय संकल्पकी पूर्तिके लिए कार्य करनाही सर्वोत्तम है। इस प्रकार आत्म-विस्मृतिके साथ कार्य करकेही वह 'नगण्य बन जानेकी शक्ति' प्राप्त होगी। आवश्यकता पड़ने पर अपमान और तिरस्कारके लिए भी तय्यार रहना चाहिए।

मोहि न कछु बाँधे कर लाजा,
कीन्ह चहौं निज प्रभु कर काजा।

बड़ा और छोटा कोई काम है ही नहीं। गुरुदेवकी सेवाके सभी कार्य शुभ और श्रेष्ठ हैं। जो आत्म-विस्मृतिके साथ केवल कार्यकी सफलताकी दृष्टिसे कार्य करता है और बहुत आगे बढ़ता हुआ नहीं दीख पड़ता, उसे कभी लोग ठीक-ठीक समझ नहीं पाते और निरुत्साही समझते हैं। परन्तु गुप्तविद्याका साधक इसकी चिन्ता नहीं करता। कभी-कभी यश और कीर्ति के क्षेत्रसे अलग हट जानाही कार्यके लिए आवश्यक होता है। साधक इसके लिए भी तय्यार रहता है। कभी-कभी औरोंकी बात मान लेने, उनके मनके अनुकूल कार्य करनेमें ही व्यापक हित होता है, तो साधक वैसाही करता है; किन्तु जहाँ सिद्धान्तकी बात होती है, वहाँ वह चट्टानके समान अचल और

स्थिर रहता है। एक साधारण उदाहरण मांसाहारका है या धूम्रपानका। हमें किसी निमंत्रणमें जाना पड़ा; यदि वहाँ पर आमिष भोजनका ही अधिक्य है और निरामिष वस्तुएँ बहुत कम हैं या वहाँ सभी धूम्रपान करते हैं, तो क्या हमभी आमिष भोजन करलें या धूम्र-पान करने लगें? कदापि नहीं। शारीरिक कष्ट, और सामाजिक संकोचकी चिन्ता छोड़कर हमें अपने सिद्धान्तका पालन करना होगा। किन्तु वेष-भूषाकी बात लीजिये। आजकलका फैशन सुन्दर न भी हो, फिरभी जहाँ किसी सिद्धान्तकी बात नहीं है, वहाँ कपड़े पहिननेके संबंधमें लोगोंके बीचमें नक्कू बननेकी आवश्यकता नहीं। सिद्धांतमें अटल और गौण विषयोंमें अत्यन्त नम्र, यही साधक-शिष्यकी मनोवृत्ति होनी चाहिए।

जबतक समस्त व्यक्तिगत इच्छाएँ मिट नहीं जातीं, तब तक आत्म-विस्मृतिकी शक्ति प्राप्त नहीं होती। हमें अपने निम्नस्वभाव पर ऐसा अधिकार प्राप्त करलेना चाहिए कि जिससे हम औरोंकी दृष्टिमें नगण्य हो सकें।

१४. शांतिकी अदम्य इच्छा करो।

जिस शांतिकी कामना तुमको होगी, वह ऐसी पवित्र शांति है जिसमें कोई विघ्न न डाल सकेगा और जिस शांतिके वातावरणमें आत्मा उसी प्रकार विकसित होगा जैसे शांत सरोवरमें पवित्र पद्म विकसित होता है।

इस छोटेसे सूत्रका पहिले १३वें सूत्रसे बड़ा घनिष्ट संबंध है। वही शक्ति वांछनीय है जो शांति प्रदान करती है, और बिना अपने

ऊपर अधिकार प्राप्त किये शांति मिल नहीं सकती ; और जब तक हमें स्वयं शांति नहीं है, तबतक हम दूसरोंको शांति प्रदान नहीं कर सकते। संसारमें अधिकतर लोग चिंतित और अशांत रहते हैं। द्वेष और स्पर्धासे तथा असंतुष्ट इच्छाओंके कारण उनकी सारी प्रकृति उद्वेलित रहती है। शिष्यकी साधनाके साथ इस प्रकारकी अशांति न रहनी चाहिए।

शांत सरोवरमें ही कमलका फूल पूरी तौरसे खिल पाता है, बहते हुए या लहरलेते हुए जलमें नहीं। निम्न कामनाओं और वासनाओंके थपेड़े खाते हुए हृदयमें आत्मारूपी पुष्प खिल नहीं सकता। जो क्रोधसे भरे रहते हैं, जो सदा अपनेही हिताहितकी चिंतामें व्यस्त रहते हैं, जो द्वेष और स्पर्धा रखते हैं, उनमें वह शांति कहाँ जिसके वातावरणमें आत्माका कमल विकसित हो ?

मानवके विकासकी उच्चतर श्रेणीका रहस्य बहुत कम लोग समझते हैं। यों तो एक श्रेणीतक हम बर्बरतासे आगे बढ़ चुके हैं; पर और आगेके विकासके सूक्ष्म कोमल अंकुरोंको बड़ी सुरक्षा की आवश्यकता है। काम क्रोधादिके थपेड़े उन्हें शीघ्रही झुलसा देते हैं। बाल्यकाल यदि ऐसे कामक्रोध-पूर्ण वातावरणमें बीतता है, तो अधिकतर बच्चोंके लिए एक जीवन प्रायः निष्फल हो जाता है और इसका दायित्व अभिभावकों और शिक्षकों पर है। होनहार बच्चोंकी उच्च संभावनाओंका इस प्रकार दमन और विनाश अभिभावकों और शिक्षकोंके लिए अत्यंत अशुभ-कर्म-संचयका कार्य है। स्वयं अपने लिए और अपने आश्रितों और रक्षितोंके लिए प्रत्येक अवसरसे लाभ उठाना चाहिए और उसे खोना न चाहिए।

१५. सम्पत्तिकी अपूर्व इच्छा करो।

परंतु ये सम्पत्तियाँ केवल शुद्ध आत्माकी हों और इसलिए सभी शुद्ध आत्मा इनके समान रूपसे अधिकारी हों, स्वामी हों, और इस प्रकार ये सभीकी, जब वे सब एकीकृत हों, संयुक्त हों, सम्पत्ति हों। ऐसी संपत्तिकी आकांक्षा करो जिसका स्वामी शुद्ध आत्मा हो सके, ताकि तुम सम्पत्तिका संग्रह समस्तके लिए करो, उस सामूहिक संयुक्त आत्माके लिए, जो ही तुम्हारा सच्चा आत्मा है (सच्चा स्वरूप है)।

जिन संपत्तियोंकी हमें कामना करनी है, वे उन गुणोंका समूह हैं जो कि समस्त मानवजातिके लिए हितकर हैं। जो भी विजय हम प्राप्त करते हैं, वह अपने लिए नहीं, समस्त मानवजातिके लिए है। जो कुछ हमारा हो, वह सबका हो, अकेले हमारा नहीं। इस सबमें निरहंकारकी ही चर्चा है। हम अलग अपने लिए किसी वस्तुको न चाहें, ममत्वका भाव न रक्खें। कहते हैं कि गुरुदेव, सिद्ध महात्मागण, कर्मसे परे हो जाते हैं। इसका अर्थ यही है कि वे अपनी समस्त शक्ति लोकहित पर ही व्यय करते हैं, इसलिए वे कर्मसे बंधते नहीं। उनके समस्त शुभकर्मोंके फल भी, उन्हें नहीं, मानवजातिको मिलते हैं।

हमारे कर्म भी इस निरहंकारकी भावनासे किये जाने चाहिए। अपनेको भूलकर लोक-संग्रहके लिएही कर्म करना चाहिए। ईश्वर इसी प्रकार कार्य करता है, हमभी उसीके अंश हैं। हमारे समस्त कर्म उसीके हैं; हमारा कुछ भी नहीं।

अध्याय ८

सूत्र १७ से १९ तक

१७. मार्ग की शोध करो।

अब जो तीन छोटे छोटे सूत्र आते हैं वे चौहान विनीशिअन की व्याख्या और महात्मा हिलेरिअनकी टिप्पणीके साथ ले लिये गये हैं। इसलिए अब उन्हें जिस क्रममें वे मूल पुस्तकमें आते हैं, उसी क्रमसे हम भी उनपर विचार करेंगे। दोनों महापुरुषोंके लंबे लंबे प्रवचनोंसे स्पष्ट हो जाता है कि अब हम ग्रंथके बड़े महत्वपूर्ण अंश का विचार कर रहे हैं।

टिप्पणी : ये चार शब्द कदाचित् अलग लिखे जानेके लिए बहुत हल्के और थोड़े जान पड़ते हैं। शिष्य कदाचित् कहे "क्या इन शब्दोंको पढ़ना आवश्यक भी है ? क्या मैंने मार्ग ढूँढ नहीं लिया है ?" फिर भी जल्दी करके आगे न बढ़ जाओ। तनिक रुको और विचार करो। तुम मार्ग पाना चाहते हो या तुम्हारे मनमें ऊँची स्थिति प्राप्त करने, ऊँचे चढ़ने और एक विशाल भविष्य निर्माण करनेके स्वप्न हैं ? सावधान! मार्गके ही लिए मार्गको

प्राप्त करना है; तुम्हारे ही चरण उस मार्गपर चलेंगे, इसलिए नहीं।

इन शब्दोंमें बड़ी सुंदरतासे उस मनोभावका निरूपण है, जिसके साथ हमें साधनपथकी ओर बढ़ना चाहिए। बराबर देहात्माके अहंकारको दूर करके उच्चात्माकी दृष्टिसे कार्य करना है। यही है मार्गको ढूँढना। हम ऊपर देख चुके हैं कि नष्ट कर देने पर भी महत्वाकांक्षा अनेक सूक्ष्मतर रूपोंमें प्रकट होती है। अब हमें अपनी व्यक्तिगत सभी आकांक्षाएँ त्यागकर अपनेको सर्वथा ऋषिसंघकी सेवामें अर्पित कर देना है। हमें गुरुदेवकी शक्तिके वहनके लिए एक अत्यंत उपयुक्त साधन बन जाना है। उच्चलोकोंसे आनेवाले शक्ति-प्रवाहको स्थूल जगत्में कुछ प्रतिरोधका सामना करना पड़ता है। शिष्य अपनेको यथासाध्य ऐसा बनानेका प्रयत्न करता है कि उसके द्वारा गुरुदेव की शक्ति विना अवरोधके और विना विकृत हुए संसारमें वितरित हो सके। शिष्यकी चेतनाका गुरुदेवकी चेतनासे इस प्रकार संबंध बन जाता है कि उसके द्वारा गुरुदेव अपने विचार भी भेज सकते हैं और शिष्यकी मनोदशाको जान भी सकते हैं। यदि शिष्य काम-क्रोधादिको अपनेमें प्रकट होने देगा, तो उसका प्रभाव गुरुदेव पर भी पड़ेगा और इस अपवित्रतासे अलग रहनेके लिए गुरुदेव को वह मार्ग ही बंदकर देना पड़ेगा। शिष्य ऐसा अवसर न आने देना चाहेगा; इसलिए इस प्रकारकी भावनाओंसे सतर्क रहेगा। छोटी छोटी घटनाएँ भी, जिनका प्रभाव शिष्य पर पड़ता है, गुरुदेवकी चेतना तक पहुँच जाती हैं; इसलिए शिष्य सदैव गुरुदेवको तनिक भी असुविधा न हो, इसका ध्यान रखता है।

आगे चलकर महात्मा हिलेरिअन अपनी टिप्पणीमें लिखते हैं:—

> इस सूत्रमें और दूसरे भागके सत्रहवें सूत्रमें सादृश्य है; जब युगोंके प्रयत्नों और सफलताओंके बाद अंतिम विजय प्राप्त हो चुकती है और अंतिम रहस्यके ज्ञानकी माँग की जाती है, तब समझलो कि तुम और आगेके मार्गके लिए तय्यार हो।

दूसरे भागके सत्रहवें सूत्रका शब्दशः अनुवाद यों है: 'अपने अत्यंत अंतःस्थित 'एक'से उसके उस अंतिम रहस्यके बारेमें पूछो जो रहस्य वह तुम्हारे लिए युगोंसे सुरक्षित रखे हुए है।' अर्थात् जैसे इस समय हमें अपने उच्चात्माकी खोज करना है, उसी तरह जब हम और ऊँचे स्तर पर पहुँच चुकेंगे तब हमें 'एक' अर्थात् विशुद्धात्मा (मोनाड) की खोज करनी होगी। अंतिम रहस्य यही है कि और अधिक तथा उच्च कार्य किस प्रकार किया जाय। शायद यह रहस्य बड़ा रूखा-सूखा लगे, क्योंकि लोग थके रहते हैं और विश्राम चाहते हैं। किंतु थकावट और विश्राम तो स्थूलशरीरकी बातें हैं। उच्चलोकोंमें थकावट होती ही नहीं।

> जब इस महान् पाठका अंतिम रहस्य तुमको बताया जाता है, तब उसीमें नये मार्गका रहस्य भी प्रकट होता है—उस मार्गका, जो समस्त मानवीय अनुभवोंके परे ले जाता है और जो मानव-कल्पना अथवा मानवकी अनुभूतिके सर्वथा बाहर है। इनमेंसे प्रत्येक बात पर देर तक ठहरकर भलीभाँति विचार कर लेना आवश्यक है। ऐसे प्रत्येक अवसर पर यह निश्चय कर लेना आवश्यक है कि मार्गका ग्रहण केवल मार्गके ही लिए किया जारहा है।

मार्ग और सत्य पहिले आते हैं और उनके पश्चात् जीवन ।

जब जीव अर्हत पदको प्राप्त कर चुकता है और उसके परेकी दीक्षा ग्रहण करनेको होता है, तो उसे कई मार्गोंमें से किसी एकको चुनना होता है। सात पथ सामने होते हैं और उनमें से एकको चुनना होता है। किंतु यह न भूलना चाहिए कि पथको 'पथके ही लिए' चुनना है, कुछ अपने सुदूर भविष्यके हितके लिए नहीं। अर्हत् पदके बाद क्या चुना जायगा, इसका निश्चय अभीसे करना तो ऐसाही होगा जैसे कोई बच्चा बिना सारी परिस्थिति जाने जीवनके लिए अपने पेशेका चुनाव करे। उच्च आत्माही यह निर्णय करेगा; निम्नात्मा तो तब विनष्ट हो चुकेगा। इस समय निम्नात्माको इतना ही जानना पर्याप्त है कि उसे सेवा करनी है, उस परमोद्देश्यका साधनमात्र बनना है। ऐसा न होनेसे निम्नात्मा बाधा डाल सकता है।

यह भी स्मरण रखना चाहिए कि चेतनाके जिस स्तरका अनुभव हमें नहीं है, उसके संबंधमें हम कोई मत स्थिर नहीं कर सकते। किसी समय विशेषपर संसारकी आवश्यकता क्या है, इसीपर निर्णय करना होता है। कहाँ आवश्यकता है, कहाँ कार्यकर्ताका स्थान रिक्त है, इसीपर निर्णय होता है। मुक्त जीव जहाँ आवश्यकता होगी वहीं सेवा करनेको तत्पर होगा। ईश्वरके संकल्पकी पूर्तिके लिए सहायता देना ही उसका लक्ष्य है। मिसेज़ बेसंट कहती हैं 'मैंने इसपर बल इसलिए दिया है कि मुझे चेतावनी दी गई थी कि उपयोगी कार्य करनेके बदले, जो कार्य अभी तुम्हे दिया नहीं गया है उसकी चिंता न करो।' भगवद्गीतामें कहा है 'परधर्मो भयावहः'। दूसरेका धर्म भयावह है; जो हमारा अपना धर्म है, वही हमारा कर्तव्य है।

समस्त मानवीय अनुभवके परेका पथ सिद्ध महापुरुषका पथ है। इस पथके सात मार्ग हैं और उनमेंसे कौन चुना जाय, इसका निर्णय विशुद्धात्माके हाथमें है। हमारी निम्न चेतनाके लिए तो सेवाका ही निश्चय पर्याप्त है।

१८. अपने आंतरक्षेत्रमें प्रविष्ट होकर मार्ग की शोध करो।

१९. बाह्य जीवनमें हिम्मतसे आगे बढ़कर मार्गकी शोध करो।

भीतर प्रवेश करके मार्गको ढूंढनेका आशय है, अपने उच्चात्माके आदेश प्राप्त करके उनका अनुसरण करना। जैसा कह आये हैं, पहिले देहात्माका जीवात्मासे एकात्म्य करना होता है; फिर जीवात्माको पूर्णरूपसे विशुद्धात्माको प्रतिबिम्बित करना होता है। जब वह पूर्णरूपसे विशुद्धात्माको प्रतिबिम्बित करने लगता है, तब मनुष्य अशेष (असेख) दीक्षाके लिए तय्यार होता है। उसके बाद सिद्ध-पुरुष अपनी चेतनाको ईश्वरकी चेतना तक उठानेका प्रयत्न करता है। वास्तवमें वह अपनेहीको उच्चाति-उच्च स्तर पर ढूँढता है।

प्रत्येक व्यक्ति अपने अंदर ही बहुत कुछ प्राप्त कर सकता है। देहात्मा, हमारा निम्नतर 'अहं' तो वास्तविक मनुष्यका बहुत छोटा अंश है; किसी एक जन्ममें जीव अपना बहुत थोड़ा ही अंश प्रकट कर पाता है। जीवात्माकी बहुमुखी प्रतिभाको कोई एक जन्म पूर्णतया प्रकट नहीं कर सकता। कभी कभी एक साधारण मनुष्य भी असाधारण वीरता प्रकट करता है; ऐसा करके वह अपने ही असली स्वरूपकी झलक दिखा रहा है। जीवके जन्म धारण करनेका उद्देश्य ही यही है कि वह अपनी ऊँची कल्पनाओं

को साकार कर सके, उनमें दृढ़ता ला सके। जीवात्मामें एक प्रकारकी विशालता किंतु अस्पष्टता रहती है; देहात्मा अपनी संकीर्णताके साथ स्पष्टता और दृढ़ता प्रकट करता है। अस्पष्ट होनेपर भी जीवात्मा सर्वथा निर्दोष रहता है, कारणशरीरमें दोष रहही नहीं सकता।

भीतर प्रविष्ट होकर मार्गको ढूंढनेका अर्थ है अपने उच्चाति उच्च आदर्शोंसे प्रेरणा प्राप्त करना, अनेक जन्मोंमें संचित किये हुए अनुभवसे लाभ उठाना। किंतु हमें बाहर जाकर भी अनुभव प्राप्त करना है। अपने आसपास क्या होरहा है, इस अनुभवकी भी हम अवहेलना नहीं कर सकते।

———

अध्याय ९

सूत्र २०

२०. किसी भी एक रास्तेसे उसे न ढूँढो। प्रत्येक स्वभावके योग्य एक रास्ता रहता है जो उसके लिए सबसे अधिक वांछनीय जान पड़ता है। परंतु यह मार्ग केवल भक्तिसे प्राप्त नहीं होता, न केवल धार्मिक चिंतनसे, न प्रगतिसे, न आत्म-त्याग-पूर्ण परिश्रमसे, न बड़े ध्यान-पूर्ण जीवनके निरीक्षण से। कोई भी एक साधन शिष्यको एक पगसे अधिक आगे नहीं ले जा सकता। सीढ़ीको पूर्ण करनेके लिए प्रत्येक सोपानकी आवश्यकता होती है।

यह २०वाँ सूत्र १७, १८ और १९ वें सूत्र पर चौहान-विनीशनकी व्याख्या है। यहाँ बताया गया है कि सबसे सुलभ साधनसेही शिष्यको प्रगति नहीं करनी है। उपयोगी बनने का लक्ष्य प्राप्त करनेके लिए सभी प्रकारसे अपना विकास करना आवश्यक है। आरम्भमें कोई एक साधनाही मनुष्य कर सकेगा।

पर करना सभी साधनाएँ हैं। सभी साधनाओंका अभ्यास क्यों आवश्यक है, यह समझना कठिन नहीं है। ज्यों-ज्यों मनुष्य आगे बढ़ता है, उसे सबसे एकात्म्य प्राप्त करना होता है। यदि वह स्वयं एकांगी है, तो वह दूसरे प्रकारके स्वभाववालेको समझ न पायेगा, उससे एकात्म्य प्राप्त न कर सकेगा। इसलिए उसे बहुमुखी होना चाहिए। सभी स्वभावके लोगोंको समझ सकना चाहिए।

'समत्व' भाव प्राप्त होना ही मुख्य वस्तु है। साधकमें इतनी उदारता होनी चाहिए कि सभीकी सहायता कर सके, सबका आदर कर सके। किसी भी मार्गकी निन्दा या निरादर न करना चाहिए।

> मनुष्यके दुर्गुण और पाप भी सीढ़ीके सोपान बनते जाते हैं, जैसे-जैसे मनुष्य एक-एक करके उनपर विजय प्राप्त करता जाता है। मनुष्यके सद्गुण तो सचमुच सोपान हैं और आवश्यक हैं—उनके बिना तो किसी प्रकार काम ही नहीं चल सकता। फिर भी, यद्यपि वे एक सुन्दर वातावरणकी सृष्टि कर देते हैं और सुखमय भविष्यका निर्माण करते हैं, फिर भी यदि वे अकेलेही हों तो व्यर्थ हैं।

सबको समझ कर सबकी सेवा कर सकने की शक्ति प्राप्त किये विना सिद्धि मिल नहीं सकती। इस पार्थिव लोकमें बहुत कुछ काम करनेको पड़ा है। हमें अपनेको उसके योग्य बनाना चाहिए। परन्तु साथही केवल यह त्याग-पूर्ण परिश्रम भी पर्याप्त नहीं है। हममें भक्ति भावभी होना चाहिए। विधि-

विधानको समझनेके लिए जीवनका निरीक्षण भी आवश्यक है। थोड़ेमें कह सकते हैं कि गुरुदेवके सेवक तथा शिष्य को भक्ति, ज्ञान, कर्म सभी मार्गोंका अनुभव और अभ्यास होना चाहिए।

यहाँ पाप और पुण्य दोनोहीको सोपान कहा है। यह उदार दृष्टि अध्ययनशील जिज्ञासुको हानि नहीं पहुँचा सकती, और शिष्यमें तो यह उदारता रहनी ही चाहिए; पर साथही सीमित लौकिक दृष्टिसे पाप पापही है और पुण्य पुण्यही; अविकसित मनुष्योंके लिए यह भेद आवश्यक है। विना ऐसी भेद-बुद्धि रखे उनके आचरण विगड़ सकते हैं। इसी लिए गीतामें कहा है 'कर्ममें रत अज्ञानीकी बुद्धिको भ्रमित न करना चाहिए।' अ० ३ श्लो० २६

पर गुप्त विद्याके अभ्यासी साधकको जानना चाहिए कि दोनो ही दैवी शक्तिके प्रकटीकरण हैं। जीवके विकासमें सभी प्रकारके अनुभव अपने अपने समय पर आवश्यक और उपयोगी होते हैं। अपने अनुभवके ही सहारे हम जान गये हैं कि कुछ वर्जित कार्य उन्नतिके बाधक हैं; पर जिनके लिए उन अनुभवोंकी आज भी आवश्यकता है, उनके साथ हमें सहानुभूति रखना चाहिये। समय पाकर वे भी इनसे मुक्त हो जायँगे। मनुष्यका केवल निर्दोष और निष्पाप होना पर्याप्त नहीं है; उसमें ऐसी आध्यात्मिक शक्ति भी होनी चाहिए जिससे वह भगवान्‌के संकल्पकी पूर्ति बुद्धिमानी के साथ कर सके। प्रत्येक पापवृत्ति, प्रत्येक दुर्गुण पर विजय प्राप्त करके हम शक्ति अर्जित करते हैं और विकासके पथपर अग्रसर होते हैं।

> जो मनुष्य साधन-पथमें प्रविष्ट होना चाहता है उसको अपने समस्त स्वभावको बुद्धिमत्ताके साथ उपयोगमें लाना चाहिए।

साधन-पथ शब्दका प्रयोग यहाँ सच्चे आध्यात्मिक जीवनके लिए किया गया है। मानव आध्यात्मिक प्राणी है और आध्यात्मिक जीवन ही उसका वास्तविक जीवन है। इस पथपर उसे अपनी सारी शक्तियोंसे काम लेना होगा। एक अवस्था आती है जब साधकको बताया जाता है कि 'तूही पथ है।' अभी तक गुरुदेवही उसके लिए पथ थे। गुरुदेवमें वह ईश्वरके दर्शन करता था, परंतु अब ईश्वर स्वयं उसमें ही प्रकट हो रहे हैं और वह स्वयं पथ है।

जीवको 'ईश्वरका अंश' केवल काव्यकी भाषामें नहीं कहा गया है। इस वाक्यांशमें एक गहन सत्य निहित है। 'गुप्तज्ञान संहिता' (द सीक्रेट डॉक्ट्रिन) में एक स्थान पर गुरु शिष्यसे पूछते हैं, 'तुम क्या देखते हो ?' शिष्य अगणित स्फुलिंग (चिनगारियाँ) देखता है; अज्ञानी इन स्फुलिंगोंको अलग अलग देखता है, पर ज्ञानीको एक ही अग्निशिखा दीखती है। जीवात्मा और परमात्माके एकत्वका रहस्य निर्वाणलोकसे नीचे समझमें नहीं आता।

विशुद्धात्मा ईश्वरका अंश है, स्फुलिंग है और निर्वाण लोकमें त्रिगुणात्मक रूपमें प्रकट होता है। वहाँसे बुद्धिलोक और मनोलोकमें वह अपनी शक्तिको उतारता है। मनोलोकमें ही 'अहं' का निर्माण होता है। उच्च मनोलोककी प्रकृतिसे कारण-शरीर बनता है और यह कारण-शरीर अनेक जन्मोंतक बना रहता है। मनोलोकके निचले स्तरोंपर निम्न-मनका निर्माण होता है और फिर वासनाशरीर का। फिर उससे प्राणमय कोष और अन्नमय कोष बनते हैं। अपनी-अपनी भूमिकापर प्रत्येक शरीरके द्वारा अनुभवका संचय होता है और यह अनुभव ऊँचे स्तरके शरीरको दे दिया जाता है। देहात्मा प्रत्येक जन्मकी समाप्ति पर नष्ट हो जाता है और संचित

अनुभव कारणशरीर अपनी वृद्धिके लिए ले लेता है और वे अगले जन्मके लिए सुरक्षित रहते हैं।

कारणशरीरही व्यक्तित्व है; जीवात्माके अनेक जन्मोंतक यह बना रहता है। परन्तु जैसा गीतामें लिखा है "जातस्यहि ध्रुवो मृत्युः" जिसका जन्म हुआ है, उसकी मृत्यु भी निश्चित है। इसलिए कारणशरीरभी नाशवान है। बड़े कष्टके साथ दैवी स्फुल्लिंगने उसे बनाया है। शिष्यका 'अहं' यही है। बहुतोंमें तो 'अहं' औरभी नीचे—देहात्मासे अभिन्न नहीं—रहता। पर साधन-पथके आरम्भके समय तक 'अहं' भाव देहात्मासे बढ़कर इस कारणशरीरसे एकीकृत जीवात्मा तक पहुँच जाना चाहिए। अर्हत् पदकी प्राप्ति पर इसके भी पार जाना होता है, इसका अतिक्रमण करना होता है।

शिष्यके समक्ष तो अपने व्यक्तित्वके साक्षात्कार और परिष्कार का कार्य है। एक प्रकारसे यह व्यक्तित्व जीवका अपना बनाया हुआ है। जब जीव व्यक्तित्वका साक्षात्कार कर लेता है तब वह पूर्णत्व प्राप्त करके व्यक्तित्वके परे पहुँच जाता है। अपेक्षतः अविकसित जीव देहात्मामेंही क्रियाशील रहता है, उसका कारण-शरीर तो बहुत समयतक एक चैतन्य-शून्य खोलके समान बना रहता है। व्यक्तित्वके निर्माणमें सभीको एकही सा समय नहीं लगता। विकासकी ऊँची अवस्थाओंमें यह निर्माण किसी उच्चात्माकी प्रेरणासे खूब गतिशील हो जाता है। परन्तु प्रचुर समय सभीको लगता है। आरम्भमें प्रगति बहुत धीमी होती है, आगे चलकर शीघ्रगामी।

कोषोंके द्वारा बाह्य शक्तियोंसे संपर्क स्थापित करकेही दिव्य स्फुल्लिंग विकासका कार्य करता है। जैसा कि मैडम ब्लैवेट्स्कीने

कहा है, नीची भूमिकाओं पर आत्मा एक प्रकारसे अचेत रहता है, लोक विशेष पर अपनेको प्रकट करनेके वाहनकी सहायताके बिना कार्य नहीं कर सकता। वाहनोंको हर प्रकारसे दक्ष बनानेमें आत्माकी शक्तियाँ विकसित होती हैं; इस प्रकार दोनोंका विकास साथ-साथ चलता है। जब यह विकासका कार्य पूरा हो जाता है, तब आत्मा अपने कोषोंको विघटितभी कर सकता है और आवश्यकता पड़ने पर उन्हें पुनः संगठित कर सकता है। पूर्णत्व-प्राप्त आत्मा ऐसा करते भी हैं। ग्रहपतियोंके सम्बन्धमें भी मैडम ब्लैवेट्स्कीने लिखा है कि वे भी मानव-योनिमें विकसित होकर इस अवस्थाको पहुँचे हैं।

शरीर जीवात्माके कार्यके लिए हैं और उसका उनपर पूर्ण अधिकार होना चाहिए। ज्यों ज्यों जीवात्मा विकसित होता जाता है, वह शरीरोंके बंधनसे किसी हद तक स्वतंत्र होता जाता है और अपने सुख-सुविधाका ध्यान छोड़कर उन्हें अधिकाधिक उच्च कार्यके लिए उपयोगमें लाता है। स्थूल शरीरके संबंधमें तो शिष्यको यह अभ्यास प्रतिदिन करना चाहिए। स्थूल शरीर पर इस प्रकार संयम होना चाहिए कि वह हमको प्रभावित न कर सके; हमीं उससे काम लें और उसे इस प्रकार प्रशिक्षित करें कि वह अपने अनुभव जीवको दे सके। एक समय आयेगा जब स्वयं तुम कोई भी अनुभव देना न चाहोगे, और तब 'आत्मा' को जिस किसी बातकी आवश्यकता होगी, वह स्वयं लेगा। पर यह बड़ी ऊँची अवस्था है—यह अवस्था सिद्धि-प्राप्तिकी है।

गुप्तज्ञानसंहिता (सीक्रेट डॉक्ट्रिन) में लिखा है कि सिद्धपुरुष का शरीर तो मायावी होता है अर्थात् उनका स्थूल शरीर उनको किसी प्रकारसे प्रभावित नहीं करता है। चारो ओर प्रवाहित होनेवाली शक्तियाँ उनको उनके स्थूल शरीर द्वारा प्रभावित नहीं

कर सकतीं। जितना वे चाहते हैं उतनाही उनको उन शक्तियों का भान होता है। इसी प्रकार उनके वासनाशरीर और मनोमय शरीर भी उन लोकोंसे इच्छित संपर्ककी प्राप्तिके साधन मात्र होते हैं, अन्यथा उनसे किसी प्रकारका अनुभव या संवेदन उनतक नहीं पहुँचता।

प्रथम दृष्टिमें 'समस्त प्रकृतिको' उपयोगमें लानेका यह आदेश पहिले सूत्रोंका खंडन करता सा जान पड़ता है। आरंभमें हमें तृष्णाको नष्ट करनेको कहा गया था और भी वहुत कुछ नष्ट कर डालनेको कहा गया। अव कहते हैं कि समस्त प्रकृतिका बुद्धिमत्ताके साथ उपयोग किया जाय। ये आदेश कुछ परस्पर विरोधी जान पड़ते हैं। पर वास्तवमें ऐसा है नहीं। सब प्रकारकी स्वार्थपूर्ण कामनाओंको नष्ट करनेपर भी हमें अपनी भावुक प्रकृतिको नष्ट नहीं करना है। भावनाशक्ति न रहने पर तो हम दूसरोंकी भावनाओंको समझ न पायेंगे और न उनसे सहानुभूति कर सकेंगे। हमें तो अपनी भावनाशक्तिको शुद्ध करना है और उसे अपने वशमें रखना है। स्वार्थप्रियता उसमें लेश मात्र भी न रहनी चाहिए। उसी तरह मनको भी नष्ट नहीं करना है; उसे तीव्र बनाकर भी उसे वशमें रखना है।

हमें 'समत्व' का अभ्यास करना चाहिए। 'समत्वं योगमुच्यते' समत्वको योग कहते हैं। किसी एकांगी गुणका विकास करने के बदले हमारा सर्वतोमुखी विकास होना चाहिए। जो मनस्वी हैं, उन्हें करुणा और सहानुभूतिका विकास करना चाहिए; जो दयामय और स्नेहशील हैं उन्हें अपनी मानसिक शक्तियोंको विकसित करना चाहिए। भावावेग हमारी प्रकृतिको गति प्रदान करता है और मन उस गतिकी दिशा निश्चित करता

है। भाव घोड़े हैं और मन सारथी—दोनोंहीका विकास होना चाहिए। तभी हम 'अपनी समस्त प्रकृतिका बुद्धिमत्ताके साथ उपयोग' कर सकेंगे।

> प्रत्येक मनुष्य स्वयं अपने लिए पूर्णरीतिसे अपना मार्ग, अपना सत्य और अपना जीवन है। परन्तु वह यह सब तभी होता है जब वह अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व (इंडिविजुआलिटी) को अच्छी तरहसे ग्रहण कर लेता है और अपनी जागृत आध्यात्मिक इच्छासे यह निश्चय कर लेता है कि वह स्वयं यह व्यक्तित्व, यह 'अहं' नहीं है। यह व्यक्तित्व तो वह वस्तु है जिसका उसने बड़े कष्टसे अपने उपयोगके लिए निर्माण किया है और जिसकी सहायतासे जैसे-जैसे उसकी बुद्धिका उदय धीरे-धीरे होता जायगा, वैसे-वैसे वह उस व्यक्तित्वके परेके जीवनको प्राप्त करता जायगा। जब उसे यह निश्चय हो जाता है कि इसी उद्देश्यकी पूर्तिके लिए उसके अलग और अद्भुत व्यक्तित्व और जीवनका अस्तित्व है, तब सचमुच, और केवल तभी, वह पथपर प्रविष्ट होता है।

'पथ' का अर्थ यहाँ है वास्तविक आध्यात्मिक जीवन। यह जीवन व्यक्तित्व-निर्माणके अनुभवके बादही प्राप्त हो सकता है। 'वह वस्तु जिसे उसने बड़े कष्टसे अपने उपयोगके लिए

निर्मित किया है।' विनीशिअन गुरुदेवके ये शब्द व्यक्तित्वके विषयमें तो सत्य हैं ही, 'देहात्मा'के सम्बन्धमें भी ये शब्द ठीक उतरेंगे। विशुद्धात्मा अपने लिए व्यक्तित्व बनाता है और यह व्यक्तित्व प्रत्येक जन्मके लिए अलग-अलग 'देहात्मा' बनाता है। पर ये सब नीचेके वाहन उच्चरूपके उपयोगके लिए हैं। भूल हम यह करते हैं कि हम अपना एकात्म्य निम्नरूपसे कर लेते हैं। यह निम्नरूप हमारा असली 'अहं' नहीं है; 'अहं' तो है विशुद्धात्मा, जो इन वाहनोंको उपयोगमें लाता है।

मानवका विकास है अपने आभ्यंतरिक स्वरूपसे एकीकरण, परन्तु इन बाह्य वाहनोंसे अपनेको खींच लेनेमें अपने अनुभवों को साथ लेते जाना, खाली हाथ न लौटना। नीचेके अनुभवको ऊँचे स्वभावसे आत्मसात् करलेनेका क्रम बराबर चलता रहता है। इसी जन्ममें हमने पढ़ना किस प्रकार सीखा, यह स्मरण रखने की आवश्यकता नहीं रह जाती ; इसको भूलकर ही हम अब पढ़ पाते हैं। इसी तरह गानविद्या सीखने की बात है, या साइकल् चढ़ने की; उन विषयोंका अभ्यास आरम्भमें कैसे किया, यह सब याद करना अनावश्यकही नहीं हानिकर भी है। अभ्यस्त गायक गा सकता है, साइकल्-सवार साइकल् चला सकता है। यही बात पूर्वजन्मकी स्मृतिके सम्बन्धमें भी है। हमें पूर्वजन्मकी घटनाओंकी स्मृति नहीं रहती, पर उनका अनुभव आत्मसात् हो जाता है। लोग सोचते हैं कि क्याही अच्छा होता यदि पूर्व जन्मोंकी स्मृति बनी रहती! परन्तु क्या सचमुच अच्छा होता? इसी जन्मकी कितनीही बातें जब तक भूली रहती हैं, चित्त शांत रहता है; उनके स्मरण मात्रसे दुःख फिर हरा होजाता है। अभी हम किसी घटनाका ठीक-ठीक मूल्यांकन तो कर नहीं पाते, इसलिए उनकी स्मृतिसे परेशानी

और निराशाही बढ़ती है। जब हम शान्तिसे विवेकपूर्ण दृष्टिके साथ सभी घटनाओंको देख और तौल सकेंगे, तब हमारी यह स्मृति जागृत हो जायगी।

सारा विकास-क्रमही मानवके कल्याणके लिए है। यदि यह हमारे लिए कल्याणकारी होता कि हमारे देहात्माको पूर्व जन्मोंके अनुभवोंकी स्मृति रहे, तो अवश्य रही होती। हमें विश्वास होना चाहिए कि यदि हमें यह स्मृति नहीं रहती, तो इसी विस्मृतिमें ही हमारा कल्याण है। दैवी नियम न्यायमय और कल्याणकारी है, चाहे हम उसकी प्रत्येक कड़ीको समझ पायें या नहीं।

जीवात्मा अशुभ परिणामवाले कृत्योंका लेखा रखता है और पूर्व अनुभवके सहारे देहात्माको सतर्क करता रहता है। कभी-कभी देहात्मा जीवात्माके आदेशको मानता नहीं; पर धीरे-धीरे जीवात्मा देहात्माको अपने वशमें करता जाता है। यदि हम अपनेको देहात्मासे परे जीवात्मासे एकीकृत रखनेका प्रयत्न करें, तो हम अपनी प्रगति शीघ्रतासे कर सकते हैं। यदि साथ-साथ वासना-शरीर और मनोमय शरीर का भी संयम चलता रहे, तो प्रगति औरभी गतिशील हो जाय। मनका इस प्रकार संयम होना चाहिए कि वह जीवात्माकी आवश्यकताके अनुसार जो कुछ उसे चाहिए दे सके; इधर-उधर भटकता न फिरे।

निम्नलोकोंके अनुभवके परिणामको अपने ऊपरी स्तरपर पहुँचानेका क्रम तब तक चलता रहता है जब तक सिद्ध-पदकी प्राप्ति नहीं होती। जीव उन्नति करते हुए पहिले अपने मनस्‌को बुद्धिके स्तरपर ले जाता है। उसका त्रिमूर्ति रूप तो अब भी बना रहता है, पर अब वह तीन भूमिकाओं पर रहनेके बदले

दोही भूमिकाओं पर रहता है; आत्मा अपनीही भूमिका पर, बुद्धि अपनी पर और मनस भी बुद्धि हीके स्तर पर। तब वह कारण-शरीरको त्याग देता है, क्योंकि अब उसके लिए कारण शरीरकी सार्थकता नहीं रही। अब यदि उसे नीचेके स्तर पर उतरना होता है, तो वह एक नया कारण-शरीर बना लेता है; अन्यथा उसे कारण-शरीरकी कोई आवश्यकताही नहीं पड़ती।

आगे चलकर बुद्धि और विशुद्ध मन (अन्तर्ज्ञान) ऊपर आत्मिक या निर्वाणकी भूमिका पर खिंच जायँगे और आत्मा-बुद्धि-मनसकी त्रयी उस भूमिका पर जागृत हो जायगी और ये तीनों व्यक्त रूप एक हो जायँगे। यह शक्ति सिद्ध-पुरुषकीही पहुँचके भीतर होती है, क्योंकि सिद्ध पुरुष जीवात्माका एकीकरण विशुद्धात्मासे कर लेता है, ठीक जैसे साधक-शिष्य अपने देहात्माका एकीकरण जीवात्मा (व्यक्तित्व) से करनेका प्रयत्न करता है।

जब इन ऊँची भूमिकाओंपर लोग पहुँच जाते हैं तब उनके विकासकी गति बहुत तीव्र हो जाती है, इतनी तीव्र कि उसकी न हम कल्पना कर सकते हैं और न हमें एकाएक उस पर विश्वासही होता है। यह गति २, ४, ८, १६ की नहीं होती, यह तो २, ४, १६, २५६ इस क्रमके लगभग होती है, ऐसा महात्मा कुथूमिका कथन है। इसलिए हमारा उज्ज्वल भविष्य न तो असम्भवही है और न इतना कठिन या थकादेने वाला। जब एक बार हम साधन-पथपर प्रविष्ट हो जाते हैं, तब प्रयत्न करनेसे प्रगति बड़ी शीघ्रतासे होती है। साधारण सज्जन पुरुष अपनी शक्ति और चिंतन का कदाचित शतांश ही अपनेको औरभी पवित्र तथा अच्छे बनानेमें लगाते हैं; अधिकांश लोग तो इतनी शक्ति भी इस ओर नहीं लगाते। जो गुप्त विद्या और आध्यात्मिक

विषयों का अध्ययन और अभ्यास करते हैं, वे तो अवश्यही कहीं अधिक परिश्रम इस ओर करते होंगे। जब एक बार हमारी विचार-शक्ति इस महान कार्यकी ओर एकाग्र हो जाती है, तव फिर बड़े लम्बे-लम्बे पग उठने लगते हैं।

अपने अन्तरात्माकी गूढ़ और तेजोमय गहनतामें डूबकर उसे ढूँढो। अपने सभी अनुभवोंकी परीक्षा करके, व्यक्तित्वके आशय और उसकी प्रगतिको समझनेके लिए अपनी इन्द्रियोंका उपयोग करके उस मार्गको ढूँढो। उन अन्य दैवी अंशोंके सौन्दर्य और गहनताको भी समझो, जोकि तुम्हारे साथ-साथ कष्ट उठाकर प्रयत्नशील हैं और जिनसे वह मानव जाति बनी है, जिसके अंश तुम भी हो; और इस प्रकार उस मार्गको ढूँढो। उस मार्गको जीवन और अस्तित्वके नियमों, प्रकृतिके नियमों, एवं पराप्राकृतिक नियमोंके अध्ययनके द्वारा ढूँढो और अपने अन्तरमें धीरे-धीरे प्रज्वलित होनेवाले तारे, अपने आत्माको सत्कारपूर्वक प्रणाम करके ढूँढो। ज्यों-ज्यों तुम उसकी उपासना और उसका निरीक्षण करते जाओगे, उसका प्रकाश स्थिर गतिसे बढ़ता जायगा। तब तुम्हें जान पड़ेगा कि तुमने मार्गका आरम्भिक छोर पा लिया है। और जब तुम मार्गका अन्तिम छोर पा लोगे, तो उसका

प्रकाश एकाएक अनन्त प्रकाशका रूप धारण कर लेगा ।

इस व्याख्यामें फिर हमें मार्गको ढूँढनेके तीन ढंग बताये गये हैं। पहिले वाह्य जगत् या प्राकृतिक नियमोंके निरीक्षणके द्वारा, फिर परा-प्राकृतिक नियमों अर्थात् उच्चमन और बुद्धिके निरीक्षणके द्वारा, और फिर निर्वाणलोकके जीवनके अस्तित्वके अध्ययनके द्वारा। प्राकृतिक नियम भूलोक, भुवर्लोक और मनोमय जगत्के निम्न रूप-स्तरोंके नियम हैं। इन लोकोंसे ऊँचे—किंतु अस्तित्वके ऊँचे लोकोंसे नीचे—वाले अरूप मनोमयलोक और बुद्धिलोकके नियम पराप्राकृतिक नियम कहे गये हैं। इन लोकोंमें जड़-प्रकृतिके ऊपर जीवनका प्राधान्य रहता है और वहाँ क्षण-क्षणमें परिवर्तन होते रहते हैं। वहाँ किसी प्रकारकी कोई अलग स्पष्ट आकृति नहीं होती। विचारोंके परिवर्तनके साथ आकार बदलते रहते हैं। वहाँकी प्रकृति सर्वथा जीवनको व्यक्त करनेकी साधन मात्र होती है। आकार क्षण-क्षणमें बनते बिगड़ते रहते हैं। मनस्के अरूप लोकके संबंधमें, और एक सूक्ष्म रीतिसे बुद्धि लोकके संबंधमें भी, यह कथन सत्य है।

हमलोग उन सभी वस्तुओंको पराप्राकृतिक या अलौकिक कह देते हैं, जो हमारे साधारण अनुभवके आधारपर समझमें नहीं आतीं। जोकुछ मनुष्यके जाने हुए प्राकृतिक नियमोंके अनुकूल नहीं जान पड़ता, उसीको हम अलौकिक या पराप्राकृतिक कहने लगते हैं। संसारमें अलौकिकता अर्थात् पराप्राकृतिक घटनाओं-के प्रति बड़ा विद्रोह है। लोग समझते हैं कि ऐसी कोई वस्तु हो ही नहीं सकती, क्योंकि प्रकृतिमें अनियमितता तो है ही नहीं। सब जगह प्रकृतिकी नियमितताका राज्य है। परन्तु

जब हम उस स्तरकी बात करते हैं जिसे यहाँ पराप्राकृतिक कहा है, तो हम इन्द्रिय-जन्य अनुभवके परेकी बात कह रहे हैं, चाहे कितने ही विस्तृत अर्थमें हम 'इन्द्रिय-जन्य' अनुभव शब्दका व्यवहार क्यों न करें। यहाँ तो हम पदार्थ जगत्से परे आध्यात्मिक जगत्की बात कह रहे हैं।

आत्माका निर्वाणलोक अस्तित्वकी वह भूमिका है जहाँ सभी कुछ सत्य है, जहाँ वास्तविक चेतनाका निवास है। इस मार्गकी शोध हमें अपने अस्तित्वके अंततमसें प्रविष्ट होकर करनी है। जबतक हम अपनी ध्यानावस्थामें निर्वाणलोक तक पहुँच नहीं जाते, तबतक हम आत्मिक चेतनाका संपर्क प्राप्त नहीं कर सकते। फिर भी हम उसके अस्तित्वकी कल्पना करके, 'वह है' ऐसा दृढ़ निश्चय करके, उस ओर प्रयत्न कर सकते हैं। कल्पना करें कि एक क्षेत्र है जहाँ सब सत्य ही है, जहाँ किसी प्रकारकी सीमितता नहीं, सीमाएँ जहाँ अंतर्धान हो जाती हैं और जहाँ एकताका भान होता है। अपने ध्यानमें ऐसी कल्पना करें। यह कल्पना 'नेति' 'नेति'के द्वारा ही की जा सकती है। 'क्या ऐसा जगत् गोचर है? नहीं। क्या यह मनके चिंतनकी वस्तु है? नहीं। न यह इन्द्रियों द्वारा जाना जाता है, न मन द्वारा, न बुद्धि द्वारा।'

कोई कह सकता है 'यह क्या नहीं है, यह निश्चित् करके इसे क्यों ढूँढें? आत्मिक चेतनाका संपर्क यदि प्राप्त हो सकता है, तो उसे सीधे क्यों न प्राप्त करें?' पर सच तो यह है कि हमारे मस्तिष्कमें आत्मिक चेतना नहीं उतरती। आत्माके मानसिक पहलूसे कुछ कंपन आते हैं। मनोलोकसे उठनेवाले कंपनोंसे ये ऊँचे लोकोंके कंपन कुछ भिन्न होते हैं। जब मनुष्य साधन-पथकी एक अत्यंत ऊँची श्रेणी पर, अर्हत् पदके

समीप, पहुँच जाता है, तब ध्यान करते समय समाधिकी अवस्थामें पहुँच कर निर्वाणकी आत्मिक चेतनाको प्राप्त कर सकता है।

अपने अंततमकी गहनतामें डूबकर अस्तित्वके नियमोंका अध्ययन होता है। ये नियम अव्यक्त जगत्के, निर्वाण लोकके नियम हैं, विल्कुल ठीक अर्थमें वह जगत् भी 'व्यक्त' ही है, 'अव्यक्त' नहीं; किंतु हमारी वर्तमान् अवस्थाकी दृष्टिसे वह 'अव्यक्त' ही कहा जा सकता है। उन नियमोंके अध्ययन द्वारा ही अंततममें डूबनेके उद्देश्यकी पूर्ति हो सकती है और यह उद्देश्य है 'अपने भीतर धीमे-धीमे प्रज्वलित होनेवाले तारेको, अपने आत्माको, श्रद्धापूर्वक प्रणाम करना।' स्पष्ट ही है कि यह बड़ी ऊँची आध्यात्मिक अवस्थाकी बात है।

सभी अनुभवोंके परीक्षण द्वारा प्राकृतिक नियमोंका अध्ययन होता है। ये प्राकृतिक नियम भूलोक, भुवर्लोक तथा मनोमय लोकके नियम हैं; इन्हीं लोकोंमें देहात्मा अपने अनुभव प्राप्त करता है। देहात्माका स्वामी है जीवात्मा, हमारा व्यक्तित्व। इसे हमें पराप्राकृतिक नियमोंके अध्ययन द्वारा समझना है। ये नियम उस जगत्के हैं जिसमें जीवात्मा निवास तथा विचरण करता है। यह उच्च मनोमय लोक तथा बुद्धिलोक है। 'पराप्राकृतिक'का अर्थ 'प्रकृतिके विरुद्ध' या प्रकृतिका अतिक्रमण नहीं है। सभी लोकोंमें और भूमिकाओं पर एक ही जीवन व्याप्त है। किंतु स्थूल, वासनामय, तथा मनोलोकोंके परेकी प्रकृति हमारे लिए साधारणतया अपरिचित वस्तु है, इसलिए उसे 'पराप्रकृति' कहा और वहाँके नियमोंको 'पराप्राकृतिक'। इन्द्रियोंकी पहुँचके बाहरके जगत्को पराप्राकृतिक कहा है।

तो संक्षेपमें आशय यह है कि देहात्माको ठीक-ठीक समझ पाना प्राकृतिक नियमोंको समझलेना है; जब हम जीवात्मा (व्यक्तित्व) के अध्ययनका प्रयत्न करते हैं, तब हम पराप्रकृतिके नियमोंको समझते हैं; और जब हम 'आत्मा'का साक्षात्कार करनेका प्रयत्न करते हैं, तब हम अस्तित्वके नियमोंका अध्ययन कर रहे हैं।

अध्याय १०

सूत्र २० पर टिप्पणी

टिप्पणी : सभी अनुभूतियोंकी जाँच करके उस मार्गको ढूँढ़ो। और यह ध्यान रहे कि ऐसा कहनेसे मेरा तात्पर्य यह नहीं है कि तुम इन्द्रियोंके सभी प्रलोभनोंके समक्ष झुककर उन्हें जानो। गुप्त-विद्याके साधक होनेके पहिले तुम ऐसा कर सकते हो, परन्तु उसके पश्चात् नहीं। जब मार्गको निश्चित करके तुम उसपर प्रविष्ट हो चुके, तो फिर बिना लज्जाके तुम इन्द्रियोंके प्रलोभनमें फँस नहीं सकते। तो भी बिना घृणाकी भावनाके तुम उनका अनुभव कर सकते हो; उनका निरीक्षण करो, उन्हें तौलो और उनकी जाँच करो और फिर धैर्यके साथ उस समयकी प्रतीक्षा करो जब तुमपर उनका अधिकार बिल्कुल न चलेगा।

यह टिप्पणी इस सूत्र २० पर महात्मा हिलेरिअनने लिखी है। ऊपर टिप्पणीका आरंभिक अंश उद्धृत है। अपने आरंभिक विकासके दिनोंमें मानवका विकास पाप-पुण्यका

विवेक कर सकनेकी योग्यताका नहीं रहता, पर ज्यों ही वह यह विवेक करने लगता है, उसके लिए नीतिका प्रश्न उठ खड़ा होता है। नैतिक आचरण उसका दायित्व हो जाता है। जीवनको नष्ट कर दें या उसे सत्पथ पर चलनेमें सहायता दें और उसकी रक्षा करें—जब इनका अंतर उसे जान पड़ने लगा, तो उसके लिए नीतिशास्त्रका आरंभ हो गया। जिस प्रकारके अनुभवसे इस अंतरका ज्ञान उसे हुआ है, अब वे अनुभव फिर उसके लिए अनावश्यक हैं। उसकी इन्द्रियाँ अब भी उसे न करने योग्य कार्यकी ओर आकृष्ट करती हैं और पीछे वह उसके लिए दुखी होता और पछताता है, क्योंकि वह जान गया है कि इंद्रियोंके वशमें हो जाना पाप है। वे लोग अधकचरे और झूठे साधक हैं जो कहते हैं कि अनुभवके लिए मनुष्य अनुचित कर्म भी कर सकता है। यह कथन किसी भी दशामें सत्य नहीं है। जब आदमी किसी पापको बिना पाप जाने करता है, तब वह अनुभव प्राप्त कर रहा है; किंतु जब किसी कार्यको अनुचित और पाप जानते हुए भी मनुष्य करता है, तो यह उसका पतन है और इस दुष्कर्मका परिणाम उसके लिए दुःख और कष्ट अवश्यंभावी है।

परिस्थितियोंमें फँसकर पतित हो जानेका क्रम जन्मों तक चलता है; कभी-कभी तो साधन-पथ पर प्रविष्ट हो जाने पर भी वासनाओंसे संघर्ष चलता रहता है। 'यह पाप है', इस ज्ञानके विरुद्ध भी हमारा काम-मनस् हमें प्रलोभनके प्रति आकृष्ट करता रहता है। विकास-क्रममें आगे बढ़ जाने पर मन पापकी बड़ी सुंदर और मनमोहक रूपरेखा खींचता है। इस अवस्थामें प्रलोभन बड़े सूक्ष्म हो जाते हैं। विकास-पथ पर पहुँचनेके बाद भी जब प्रलोभनकी आंधी आये, तो उन

प्रलोभनोंको किस प्रकार उपयोगमें लाया जाय, यह गुरुदेवने इस टिप्पणीके ऊपरवाले उद्धरणमें बताया है: हमें उन्हें ध्यान पूर्वक निरीक्षण करना और तौलना चाहिए और उस समयकी राह धैर्यके साथ देखनी चाहिए जब ये प्रलोभन आयेंगे ही नहीं।

जब चेतनाका केन्द्र वासना शरीरसे हटकर मनोमयलोकमें स्थित हो जाता है, तो यथेष्ट उन्नति हो चुकती है। तब मनुष्य अपनेको वासना स्वरूप नहीं समझता, वासनाओंको तो एक यंत्र मात्र, वाहन मात्र समझने लगता है। फिर भी उस वासना शरीरके कंपन उसे प्रभावित करते हैं, मानो रथके घोड़े सारथीको लेकर भाग निकले हों। कठोपनिषत्में इस अवस्थाकी चर्चा आयी है। यह बड़ी यातनाकी अवस्था होती है। साधक शिष्य जानता है कि घोड़े काबूसे बाहर हो गये हैं और बहुत ही लज्जित होता है। साधारण तौर पर वह इंद्रियोंके वशमें होता नहीं, पर कभी-कभी चूक जाता है, क्योंकि पुराने मार्ग अभी तक सर्वथा नष्ट नहीं हुए हैं और बाह्य प्रभावसे प्रेरित होकर कभी-कभी वासनाके मानसचित्र फिर जग उठते हैं। साधकको जानना चाहिए कि ये भाव बाहरसे आते हैं, स्वयं उसके नहीं हैं। यह भी लज्जाकी बात है कि ये भाव उठें भी; परंतु साधक दृढ़तासे कहता है 'हम तुम्हें पहिचानते हैं और हम तुम्हारे वशमें न होंगे।' कठोपनिषत्में जो लिखा है कि 'मनुष्य उस अवस्थाको पहुँच गया है जब वह घोड़ोंको क़ाबूमें रख सकता है।' जब मनुष्य इस कठिन परीक्षामें सफलता प्राप्त कर लेता है, तो फिर उसे इस परीक्षामें पड़ना नहीं होता। ऐसे परीक्षाके अवसर आनेपर साधकको दृढ़तासे कह सकना चाहिए 'यह स्वयं मैं नहीं हूँ; यह तो मेरा मृत निम्न स्वभाव है। मैं इसे अस्वीकार करता हूँ।' यह कह चुकने

पर कोई लज्जाकी भावना शेष नहीं रहती। मनुष्य अनासक्त भावसे उस समयकी प्रतीक्षा करता है जब ये भाव और विचार उठेंगे भी नहीं।

इस प्रकारका अनुभव इसलिए भी आवश्यक है कि बिना इस प्रकारके अनुभवके हम उन लोगोंकी सहायता नहीं कर सकते जो लोग प्रलोभनके वशमें आ जाते हैं। जबतक तुम स्वयं प्रलोभनोंके वशमें हो तुम किसीकी सहायता नहीं कर सकते, किन्तु जब तुम प्रलोभनको समझते तो हो और प्रलोभनमें पड़े हुए व्यक्तिके साथ सहानुभूति रखते हुए भी स्वयं प्रलोभनके परे हो चुके हो, तभी तुम उस व्यक्तिकी सहायता कर सकते हो। यदि तुम उससे घृणा करते हो, तो तुम उसकी सहायता नहीं कर सकते। एक बात और है। कभी-कभी लोग कहेंगे कि जिसकी तुम सहायता करना चाहते हो वह सहायताका पात्र नहीं है; किन्तु तुम्हें अपने पथसे विचलित न होना चाहिए। कभी-कभी बाह्यरूपसे सहायता दे सकना संभव नहीं होता, तो आभ्यंतरिक सहायता देते रहना चाहिए।

एक और भी ऊँची अवस्था है जब कि एक मनुष्य सिद्ध पुरुषोंसे संबद्ध होते हुए मानव जातिसे अपना इतना एकात्म्य कर लेता है कि उनके तनिकसे दुःखसे भी वह स्वयं दुखी होता है। वह संसार और सिद्ध पुरुषोंके बीच एक संयोजक कड़ी का काम करता है। सिद्ध पुरुष तो संसारकी पीड़ाका चित्र प्रतिबिम्बित करते हुए भी पीड़ाका अनुभव नहीं करते; पर जिस अवस्थाकी चर्चा हम कर रहे हैं उसमें पीड़ा भी रहती है। यह अवस्था सिद्धपद प्राप्त करनेसे पहिले की है; यह अर्हत्‌की बहुत ऊँची अवस्था है। इस अवस्थामें पापसे परे हो जानेपर भी पीड़ाका अनुभव होता है। सहानुभूति नष्ट न होनी चाहिए, यद्यपि

साधक स्वयं पापकी संभावनाके परे हो जाय। साधारण मनुष्योंको सहानुभूतिके साथ-साथ पीड़ा भी होती है किन्तु सिद्धपुरुषको पीड़ा नहीं होती।

> परंतु जो कोई इन इन्द्रियजन्य प्रलोभनोंके सम्मुख झुक जाता है, उनसे हार जाता है, उसकी निन्दा न करो। अपना हाथ उसकी ओर इस भावनासे बढ़ा दो कि वह भी तुम्हारा सहगामी, तुम्हारा बंधु है, जिसके पैर कीचड़में सन गये हैं। हे शिष्य, स्मरण रखो कि यद्यपि भले और पापी मनुष्यके बीचमें बहुत अंतर हो सकता है, फिर भी भले आदमी और ज्ञानी पुरुषके बीच यह अंतर कहीं अधिक है; और भले आदमी तथा ऐसे आदमीके बीच, जोकि सिद्ध-पदके समीप पहुँच चुका है, यह अंतर अथाह है। इसलिए सावधान! कहीं ऐसा न हो कि तुम बिना उचित समय आये, पहिले ही से अपनेको जनसमूहसे अलग और उच्च समझने लगो।

यहाँ हमें पतनोन्मुख मनुष्यकी निन्दा या तिरस्कार न करने की शिक्षा दी गयी है। जो स्वयं इन परीक्षाओंमें उत्तीर्ण हो चुका है, जो अब प्रलोभनोंसे परे है, वह कभी अपराधीकी निंदा न करेगा। सदाचारी और दुराचारी मनुष्यके बीचका अन्तर कुछ बहुत अधिक नहीं होता; दोनोंही आरम्भिक अवस्था-

में प्रयत्नशील है—एक अधिक सफल है, दूसरा अभी सफल नहीं है। किन्तु जो ज्ञानी है, जिसे पाप-पुण्यका भेद मालूम हो गया है, वह कहीं अधिक आगे बढ़ चुका है। किन्तु जब मनुष्य पाप और पुण्य दोनोंको केवल द्वंद्वका एक रूप समझने लगा है, तब वह द्वंद्वातीत होकर सिद्ध-पदके समीप पहुँच गया है। उसमें और साधारण सदाचारी व्यक्तिमें महान् अन्तर है। हमें अपनी साधारण अवस्थाको ध्यानमें रखते हुए किसीको तुच्छ न समझना चाहिए। यदि हम प्रलोभनमें पड़े हुए व्यक्तिका तिरस्कार कर सकते हैं, तो हमारा पतन निश्चित है। सिद्ध-पुरुष किसीका तिरस्कार नहीं करता; वह सभीकी कठिनाईको समझ सकता है।

> जब मार्गका आरंभिक छोर तुमको मिल जायगा तो तुम्हारी आत्माका तारा प्रकाशमय होकर चमकने लगेगा और उसी प्रकाशसे तुम्हें ज्ञात होगा कि वह कितने गहन अँधेरेमें चमक रहा है। मन, हृदय, मस्तिष्क सभी गहन अंधकार-पूर्ण रहते हैं जब तक पहिला महायुद्ध जीत नहीं लिया जाता। उस दृश्यसे भयभीत न हो और न आश्चर्य करो, उस धीमें प्रकाशपर अपनी दृष्टि रखो; तब वह प्रकाश धीरे धीरे बढ़ेगा। लेकिन अपने भीतरके अंधकारसे सहायता लो और समझो कि जिन्होंने प्रकाश देखाही नहीं है वे कितने असहाय हैं और उनकी आत्मा कितने गहन अंध-कारमें है।

जब हम आत्माकी ओर दृष्टि डालते हैं और अपने अंतर्तमके प्रकाशकी उपासना करते हैं, तो हमें प्रकाश धीरे-धीरे बढ़ता हुआ दीख पड़ेगा। प्रकाशको देखकरही अन्धकारका अनुमान होता है। इसीसे जिन्होंने प्रकाश नहीं देखा है, उनकी निस्सहाय अवस्थाको समझनेमें तुम्हें सहायता मिलती है। जो प्रकाशका अस्तित्व जान गये हैं उनको सहानुभूतिकी आवश्यकता नहीं है। करुणा और सहानुभूतिके अधिकारी तो वे हैं, जो अन्धकारमें हैं, क्षुद्रवस्तुओंकी मायामें फँसे हैं और अपनेको बुद्धिमान और ज्ञानी समझते हैं। वे अपने कष्टोंका कारणही नहीं जानते। वे सचमुच दयाके पात्र हैं और उनको गुरुदेव अपनी करुणा भेजते हैं। जिसने प्रकाशकी झलक पा ली है, वह तो ज्ञान-पथपर अग्रसर हो रहा है और उसके कष्ट तो उसके बंधन काट रहे हैं।

जब हमें आत्माके अस्तित्वका ज्ञान हो जाता है, तब हम एक ऐसे तथ्यसे अवगत होजाते हैं, जिसे बहुतसे धार्मिक कहलानेवाले लोग भी ठीक-ठीक नहीं जानते। जीव अमर है, यह सिद्धांततः मानते हुए भी संसारमें अधिकांश लोग सांसारिक वस्तुओंका ही महत्व समझते हैं। यह अज्ञानका अन्धकार आत्माके क्षणिक प्रकाशमें अत्यन्त स्पष्ट हो उठता है।

'प्रथम महायुद्ध' इंद्रियोंके साथका युद्ध है। मनुष्य अपने निम्न स्वभावसे, अपनी इंद्रियोंके प्रलोभनोंसे लड़ता है और उन पर विजय पाकर मनुष्यको अन्धकारमें फँसे हुए मनुष्यकी दशाका ज्ञान होता है। पर निराश होनेकी आवश्यकता नहीं है, न जो अभी फँसे हैं, उनको दोष देने की।

उनको दोष न दो। उनसे झिझक कर दूर
मत हटो ; वरन् संसारके भारी कर्मभारको थोड़ा

उठानेका प्रयत्न करो; उन इनेगिने सबल हाथोंकी (उन महात्माओंकी) सहायता करो जो अंधकारकी शक्तियोंको पूर्ण विजय पानेसे रोके हुए हैं।

अन्धकारकी शक्तियाँ कोई शैतान या वाम मार्गी नहीं हैं; तमोगुणात्मक जड़ प्रकृतिही अंधकारकी शक्ति है। उन पर विजय पानेमें हमारी सहायताकी अपेक्षा है; विधि-विधानमें हमारी सहायताका भी निश्चित स्थान है। वे 'सबल हाथ' इने गिने हैं, क्योंकि हमारी मानव जाति थोड़ेसे ही सिद्ध पुरुष, जीवन्मुक्त महात्मा अभी तक उत्पन्न कर पायी है और जो जगत्की आवश्यकताको समझते हैं, वे अवश्यही उनकी सहायता करेंगे। अभी चौथी मूल जातिके मध्यकाल तक हमारे ऋषिसंघके अधिकारी-पद पर शुक्रलोक और चन्द्रलोकसे आये हुए जीवन्मुक्तही आसीन होते थे। भगवान बुद्ध हमारी मानव-जातिके प्रथम सिद्ध महापुरुष थे। न केवल हमें उच्च पदोंके लिए जीवन्मुक्त अधिकारी प्रस्तुत करने हैं, वरन् हमें खासो संख्यामें ऐसे लोग उत्पन्न करने हैं जो विकास क्रमसे बुद्धिमानीके साथ सहयोग करके उसकी प्रगतिको तीव्र कर सकें।

तभी तुम उस आनंदके भागीदार होगे, जिसमें सचमुच घोर परिश्रम करना पड़ता है और बड़ी उदासीका सामना करना होता है, पर साथही बड़ा और सदैव बढ़ता हुआ हर्ष भी प्राप्त होता है।

हम अब आनन्द-स्वरूप जीवन्मुक्त महात्माओंके संपर्कमें आ गये; परन्तु उस आनंदके साथ लोगोंकी निस्सहाय दशा पर उदासी भी हमें प्राप्त होती है। हम उदास होते हैं क्योंकि हम

अभी उस अवस्था तक नहीं पहुँचे हैं जब कष्ट देखकर भी हम कह सकें कि सब ठीक है। विकास क्रममें आगे बढ़ने पर सुख दुखकी अनुभूति अधिक तीव्र होती जाती है। पर ज्यों-ज्यों दैवी नियमका ज्ञान होता जाता है, हमें शांति मिलती जाती है और हम सुखसे प्रफुल्लित और दुखसे उद्विग्न नहीं होते। अशोच्यके लिए शोच नहीं करते। पंडित, दैवी विधानको जाननेवाले, मृत अथवा जीवित किसीके लिए भी शोक नहीं करते।

साधक-शिष्य आनन्दका भागीदार तो होताही है, पर साथही घोर परिश्रम करना होता है। उसे अपनी समताकी रक्षा करनी होती है। 'क्षुरस्य धारा'के समान इस मार्ग पर बड़े धैर्यकी आवश्यकता होती है। सहानुभूति, धृति, संतुलन— ये सब गुण प्रकाश और आनंदके दिनोंमें नहीं, अंधकार और कष्टमेंही विकसित किये जा सकते हैं।

अन्तिम दीक्षाके समय आत्मा स्पष्ट प्रकाशके समान, एक तारा-सा दिखता है और अंतिम दीवारके विघटित हो जानेपर वह अनंत प्रकाश-सा हो जाता है। इसके पहिले अर्हत् चिंतनकी अवस्थामें आत्माकी शांतिका अनुभव कर सकता है किन्तु 'बारबार वह फिरसे दुखको अनुभव करता है। परन्तु जब पूर्ण चेतनावस्थामें मनुष्य आत्माके लोकमें पहुँच जाता है और उसकी बुद्धिलोकीय चेतना आत्मासे एकीकृत होजाती है तब बस एकही प्रकाश दिखाई देता है। आत्मा बुद्धि मनस तीनों एकात्म होजाते हैं। साधक सिद्ध हो जाता है। वह केन्द्रमें स्थिर हो जाता है और आत्मा-बुद्धि-मनसकी त्रिपुटी उससे प्रसारित होती रहती है।

अंधकारमें पड़े लोगोंको दोष न देनेकी बात मैडम ब्लैवेट्स्की अपनी जीवनमें ठीक उतारती थीं। जो कोई उनसे मिलता

और ब्रह्मविद्याके संबंधमें कुछ भी जिज्ञासा करता, चाहे वह शिष्टाचारके ही नाते हो, वह बड़ी लगनसे उसे समझातीं, सोसायटीका प्रवेशपत्र भी माँगनेपर उसे देतीं ; इस आशा पर कि कौन जाने कब उनकी सुप्त बुद्धि जाग उठे और वे आध्यात्मिक विकासकी ओर उन्मुख हो जायँ। मानवके भीतर देवत्व सोया हुआ है ; वह कभी भी जगाया जा सकता है।

आनंद, परिश्रम और पीड़ा—सभी इस साधन पथ पर प्राप्त होते हैं, परंतु परिश्रम और पीड़ा तो भ्रम हैं, वास्तवमें सत्य तो आनंद ही है, विधिविधानमें योग देनेका आनंद।

अध्याय ११

सूत्र २१

२१. भयंकर आंधीके पश्चात् जो निस्तब्धता छा जाती है, उसीमें फूलके खिलनेकी प्रतीक्षा करो; उससे पहिले नहीं।

जब तक आंधी चलती रहेगी, जब तक युद्ध जारी रहेगा, तबतक वह उगेगा, बढ़ेगा, उसमें शाखाएँ और कलियाँ फूटेंगी। परंतु जबतक मनुष्यका संपूर्ण देहात्मा विघटित होकर घुल न जायगा, जबतक वह उसी दैवी स्फुल्लिंगसे संयुक्त न हो जायगा जिसने कि उसे प्रयोग और अनुभवके लिए बनाया था, जबतक समस्त स्वभाव अपने उच्चात्मासे पूर्ण हार मानकर उसके अधिकारमें न आजायगा, तबतक फूल खिल नहीं सकता। तब एक ऐसी शांतिका उदय होगा जैसी शांति गरम प्रदेशमें भीषण वर्षाके पश्चात् छा जाती है और प्रकृति ऐसी त्वरित गतिसे

कार्य करती है कि उसका कार्य देखा जा सकता है। पीड़ित जीवात्माको ऐसी ही शांति प्राप्त होगी, और उस गहन और नीरव शांतिमें वह रहस्यपूर्ण घटना घटित होगी जो सिद्ध कर देगी कि मार्गकी प्राप्ति हो गयी है। नाम चाहे जो दिया जाय; यह वह वाणी है जो ऐसे स्थानपर मुखरित होगी जहाँ कोई बोलनेवाला न होगा! वह एक संदेश-वाहक है, ऐसा संदेश-वाहक कि जिसका रूप या शरीर नहीं है या यों कहो कि यह आत्माका फूल है जो खिल गया है। किसी भी उपमा या अलंकारसे इसका वर्णन नहीं किया जा सकता, किन्तु उसकी शोध, उसकी आशा और आकांक्षा, भीषण आंधी और झंझावातके बीच, की जा सकती है।

फूलका खिलना आत्माका विकास है। अपनी निस्सहाय अवस्थाकी कल्पना ही मनुष्यकी सबसे कष्टमयी पीड़ा है। अज्ञान के कारण मनुष्य निराश हो जाता है। जब आत्मा विकसित हो जाता है, तब फिर यह निराशा नहीं होती। हमें ज्ञान हो जाता है। कठिनाइयाँ और कष्ट फिर भी आ सकते हैं, परंतु आत्माकी अदमनीयताका विश्वास बना रहता है।

लोग अक्सर कहते हैं कि कष्ट और पीड़ाके द्वारा ही आत्माका विकास होता है, किंतु जैसा ऊपर कहा गया है, विकास शांति और नीरवतामें ही होता है। भूलोंसे हमें शिक्षा मिलती है, कष्ट पाकर हम कुछ सीखते हैं, परंतु वास्तविक

विकास कष्टमें नहीं, उसके बाद होता है। जब हमारी वेदनाकी आंधी शांत हो जाती है तब हमारा विकास होता है, इससे पहिले नहीं।

ऊँची बातोंके, आध्यात्मिक तथ्योंके संबंधमें निश्चित ज्ञान पानेको मानव व्याकुल रहता है। परंतु इस ज्ञानकी प्राप्तिका प्रथम पग उठाया जाता है, देहात्माके, अहंकारके पराजयके द्वारा। जब हमारा देहात्मा परास्त हो जाता है तो एक अपूर्व शांतिकी प्राप्ति होती है और फिर निराशा नहीं होती। प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाने पर जो घटनाएँ पहिले बड़ी महत्वपूर्ण जान पड़ती थीं, अब क्षुद्र दीख पड़ने लगती हैं। बाह्य, सांसारिक हानि लाभका वह महत्व नहीं रह जाता और जो लोग अब भी उन्हींमें मस्त हैं उन पर दया आती है।

> यह नीरव शांति क्षणभरकी हो या हजार वर्षोंकी, पर उसका अंत होगा ही। किन्तु उसकी शक्ति तुम्हारे पास बनी रहेगी। युद्धमें बार बार लड़ना पड़ेगा और बार बार विजय प्राप्त करनी होगी। प्रकृति थोड़े ही समयके लिए शांत रह सकती है।

पूर्ण विकासकी यह घटना मनुष्यके मानव स्थूल शरीरमें रहनेके समय घट सकती है या किसी उच्च लोकमें रहने पर, स्वर्ग लोकमें भी। भूलोक पर यह घटना क्षण भरकी जान पड़ेगी पर स्वर्ग लोकमें सहस्रों वर्ष की; परंतु प्रकृति सदाके लिए शांत और नीरव तो हो नहीं जाती। संघर्ष फिर होगा किंतु जो शक्ति उस नीरवतामें प्राप्त हो गयी है, वह सदैव हमें बल देती रहेगी।

इसके बाद महात्मा हिलेरिअन अपनी टिप्पणीमें लिखते हैं :—

टिप्पणी : फूल खिलनेका क्षण बड़े महत्त्वका है, यह वह क्षण है जब ग्रहणशक्ति जागृत होती है। इस जागृतिके साथ साथ विश्वास, बोध और निश्चय भी प्राप्त होते हैं। जीवात्मा क्षण भरके लिए आश्चर्य चकित हो स्तब्ध हो जाता है और दूसरे ही क्षणमें उसे संतोष, तृप्ति की प्राप्ति होती है। यही वह नीरव शांति है।

पुष्पका विकास क्रमशः होता है। जब कली बंद रहती है तब भी वह भीतर ही भीतर प्रकृतिके प्रभावोंको आत्मसात् करती हुई फूलती रहती है। खिलती तो वह एकाएक है किंतु उसकी वृद्धि, उसका विकास क्रमशः हुआ रहता है। यही बात आत्माके विकासमें भी होती है।

इस टिप्पणीमें साधकशिष्यके जीवनकी एक विशेष अवस्था की चर्चा है। यहाँ साधककी उस मनोदशाका वर्णन है, जो उसकी तब होती है जब दीक्षाके समय पहिला तथ्य उसे बताया जाता है। एक-एक करके तथ्य उसे बताये जाते हैं, सब एक साथ नहीं। किंतु प्रत्येक तथ्य उसके लिए सृष्टिका एक नया रूप ही स्पष्ट कर देता है। वह आश्चर्य-चकित रह जाता है। उसे प्रमाणकी आश्यकता नहीं होती। वह तथ्य उसे स्वयं सिद्ध हो जाता है। फिर तृप्तिका नीरव क्षण आता है।

हे शिष्य, यह जान लो कि जो इस नीरवता को पार कर चुके हैं और जिन्होंने उसकी

शांतिका अनुभव किया है और उसकी शक्तिको सुरक्षित कर लिया है वे चाहते हैं कि तुम भी उसे पार करो।

जिन्होंने प्रकृतिके रहस्यको जान लिया है, वे चाहते हैं कि और लोग भी उसे जानें। वे जानते हैं कि विधि-विधानमें हम सबके लिए सहायता करनेका अवसर है और वे चाहते हैं कि शीघ्रातिशीघ्र हम अपने इस कर्तव्यको करने लगें।

इसीलिए ज्ञानमंदिरमें, जब शिष्य वहाँ प्रविष्ट होनेकी योग्यता प्राप्त कर चुकेगा, उसे सदैव गुरुदेवके दर्शन होंगे।

इस 'ज्ञान-मंदिर'के संबंधमें बहुत भ्रम उत्पन्न हो जाता है। सार शब्द (द वॉएस ऑफ द साइलेंस)में भी 'ज्ञान-मंदिर' की चर्चा आयी है और लिखा है कि 'इन मायावी प्रदेशोंमें गुरुदेवके प्राप्तिकी आशा न करो।' यह वाक्य ऊपरके वाक्यका विरोधी जान पड़ता है, किंतु इनमें वास्तवमें विरोध नहीं है। 'गुरुदेवके दर्शन होंगे', इस वाक्यांशका तात्पर्य यही है कि गुरुदेवका कोई न कोई प्रतिनिधि तुम्हारी सहायताको मिलेगा। 'सार शब्द'की चेतावनी हमें सतर्क करती है कि भुवर्लोकमें नाना प्रकारके जीव विचरण करते हैं; इसलिए जिस किसीको भी अपना पथप्रदर्शक बना लेना भयावह है।

जो माँगेंगे, उन्हें मिलेगा। परन्तु यद्यपि साधारण मनुष्य बराबर माँगता ही रहता है, उसकी पुकार सुनी नहीं जाती। वह तो केवल अपने

मनसे माँगता है, और मनकी वाणी तो उसी लोक
तक सुनाई देती है जहाँ मन कार्यशील रहता है।
इसीलिए बिना प्रथम इक्कीस नियमोंको समाप्त किये
मैं यह नहीं कहता कि जो माँगेंगे उन्हें मिलेगा।

ईसाई धर्मपुस्तकमें इसी प्रकारके वाक्य हैं, जैसा कि यह प्रथम वाक्य है। लोग समझते हैं कि मोक्षके प्रयत्न मात्रसे ही वह प्राप्त हो जायगा। यहाँ इससे कहीं अधिक गंभीर बात कही गयी है। साधारण मनुष्य नहीं, वरन् साधक-शिष्य जिसने २१ सूत्रोंका न्यूनाधिक अभ्यास भली-भाँति कर लिया है, और प्रथम दीक्षाका अधिकारी हो गया है, उसकी बात कह रहे हैं।

केवल मनके प्रयत्नसे ये रहस्य जाने नहीं जा सकते। जिस स्तरपर प्रश्न किया जायगा, उसी पर उत्तर मिलेगा। मानसिक ज्ञान भी नगण्य नहीं है, परंतु पूर्ण निश्चय अंतः प्रज्ञाके जागृत होने पर ही होता है। इन इक्कीस सूत्रोंका अभ्यास हो जाने पर प्रथम दीक्षाके समय साधकको बुद्धिलोकीय चेतनाका संपर्क प्राप्त होता है, तब उसे एकात्म्यकी अनुभूति हो जाती है और उसकी दृष्टि सामान्य मनुष्यसे कुछ भिन्न हो जाती है। बुद्धिलोक पर चेतना अन्दरसे कार्य करती है। वहाँ सबकी चेतनाएँ हमारीही चेतनाका एक अंश जान पड़ती हैं। औरोंकी दृष्टिसे भी हम देख सकते हैं। इस सामर्थ्यकी प्राप्तिके बाद हमारे लिए औरोंको ठीक-ठीक समझ सकना, उनसे सहानुभूति कर सकना कितना सरल हो जाता है! ऐसे व्यक्तिके माँगका परिणाम अवश्य ही अत्यन्त सफलतापूर्ण होगा।

गुप्त विद्याकी भाषामें 'पढ़ने' का अर्थ है आत्म-दृष्टिसे पढ़ना। माँगनेका अर्थ है अंतरतममें क्षुधित होना, आत्मज्ञानकी उत्कट अभिलाषा करना। पढ़नेकी क्षमता होनेका अर्थ है उस क्षुधाको शांत करनेकी शक्तिको किसी अंश तक प्राप्त कर लेना।

'आत्मज्ञानकी उत्कट अभिलाषा' केवल जानने समझनेकी इच्छा नहीं है; यह तो बुद्धिलोक पर प्रकट होने वाला वास्तविक आध्यात्मिक प्रयत्न है। कभी-कभी हम लोग साधारण भुवर्लोकीय भावनाओंके आवेगको आध्यात्मिक प्रवाह समझ लेते हैं। यह भावनाओंका प्रवाह तिरस्कारके योग्य नहीं होता, उससे भी भक्ति-भाव जागृत हो सकता है; किंतु यह है नीचेके लोककी ही वस्तु और सर्वथा विश्वसनीय नहीं है। भावनाका वेग शांत हो जानेपर वही मनोदृष्टि बनी रहे, यह आवश्यक नहीं है। कभी-कभी तो भावनाकी इन हलचलोंका परिणाम अत्यंत हानिकर होता है। लोग दुर्बलमना और पागल भी हो जाते हैं। फिर भी साधारण जनोंको वह लाभदायक भी हो सकता है, किंतु गुप्तविद्याके साधकके लिए यह व्यर्थ है। उत्तेजनासे इन साधकोंकी उन्नति हो ही नहीं सकती। साधकको अपने वशके बाहरके आवेगोंको प्रवाहसे अपनेको सुरक्षित रखना चाहिए।

जब शिष्य सीखनेके योग्य हो जाता है, तो वह स्वीकृत हो जाता है, शिष्य मान लिया जाता है और गुरुदेव उसे ग्रहण कर लेते हैं। ऐसा होना अवश्यंभावी है क्योंकि उसने अपना दीप जला लिया है

और दीपककी यह ज्योति छिपी नहीं रह सकती ।

इन शब्दोंमें बड़ा आश्वासन है। लोग यह चाहे जान न पायें, फिर भी शिष्योंका निरीक्षण बराबर होता रहता है। उनके इस प्रकाशकी ओर सिद्ध पुरुषों, जीवन्मुक्त महात्माओंकी दृष्टि बराबर रहती है। ये शिष्य भी संसारको प्रकाश दे सकें, इसकी चिंता इन महात्माओंको बराबर रहती है।

लोग कभी कभी शिष्योंकी स्वीकृतिके संबंधमें नाना प्रकारकी टीका-टिप्पणी करते हैं। टीका टिप्पणी एक प्रकारसे स्वाभाविक है, किन्तु न करते तो अच्छा था। शिष्योंके दोष और दुर्बलताओंके प्रति उन टीकाकारोंकी दृष्टि रहती है, वे गुप्तविद्याके पथ पर प्रगतिका सिद्धांत क्या है, नहीं जानते। गुरुदेव अवश्य ही इन सब बातोंको हमसे अधिक जानते और समझते हैं। यदि वे किसीको शिष्य स्वीकार करते हैं, तो अवश्य ही किसी ठीक आधार पर; हम उसे समझ पायें या न समझ पायें। यदि आगे चल कर उस शिष्यका पतन भी हो, तो भी यह न भूलना चाहिए कि गुरुदेवने उसके अर्जित अधिकारके ही आधार पर उसे चुना और स्वीकार किया होगा। यदि वह सफल नहीं हुआ, तो वह उसके अपने प्रयत्नकी बात है।

कभी कभी पूर्व संबंधों और आभारोंके कारण भी गुरु-शिष्य का संबंध दृढ़ होता है। सोसायटीके यशस्वी सदस्य और पूर्व उपाध्यक्ष मिस्टर सिनेट एक पूर्व जीवनमें मिश्रके एक राजपुरुष थे। उनके पिताने एक बड़ा मंदिर बनवाया था। जो आजकल हमारे गुरुदेवोंमें से एक हैं, वे एक लड़ाईमें बंदी बनाये गये। मिस्टर सिनेट और मिस्टर लेडबीटर उस सेनामें सैनिक थे जिस सेनाने इन्हें बंदी बनाया था। उच्च पद और उच्च कुलके सैनिक

वंदियोंको बड़ी प्रतिष्ठासे रखा जाता था। यह विशिष्ट बंदी मिस्टर सिनेटके परिवारमें रखा गया। बंदीको गुप्तविद्याके अध्ययनमें रुचि थी और मिस्टर सिनेटकी सहायतासे वे यह अध्ययन उस मंदिरमें कर सके। तबसे उन्होंने सभी जन्मोंमें यह प्रयत्न जारी रक्खा। जब वे सिद्ध पद प्राप्त करके जीवन-मुक्त हुए, तब तक उनके मिश्र देशके मित्र (मिस्टर सिनेट) ने उस स्तर तक उन्नति न कर पायी। इस जन्ममें जब थिऑसोफीके तत्त्वोंके प्रचारके लिए किसी योग्य व्यक्तिकी तलाश हुई, तो उनकी निगाह अपने मिश्री जीवनके मित्र मिस्टर सिनेट पर पड़ी। वे एक शक्तिशाली पत्रके संपादक थे। गुरुदेवने उन्हें यह अवसर दे कर अपना ऋण पटाया और हम सभी जानते हैं कि किस योग्यताके साथ मिस्टर सिनेटने उस अवसरसे लाभ उठा कर थिऑसोफीके प्रचारका कार्य किया।

गुरु-शिष्यका संबंध अनेक प्रकारसे स्थापित हो सकता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि शिष्य सर्वगुणसंपन्न है अथवा उसमें किसी प्रकारके दोष या दुर्बलताएँ हैं ही नहीं। फिर भी यदि कुछ योग्यता न होती, तो गुरुदेव उसे चुनते नहीं। अपने निम्न मनसे प्रेरित होकर गुरुदेवके निर्णयकी आलोचना करना अशोभन और अनुचित है। हमें अपने सुधारकी चिंता होनी चाहिए, दूसरेके दोष-दर्शनकी नहीं।

स्वीकृतिकी बात शिष्यको सदा मालूम नहीं हो जाती। अधिकतर होता यह है कि इस प्रकारका सौभाग्यशाली शिष्य अपने भावी गुरुदेवके किसी उच्च श्रेणीके शिष्यके संपर्कमें लाया जाता है और फिर गुरुदेवकी आज्ञासे वह गुरुदेवके समक्ष उपस्थित किया जाता है और तब गुरुदेव उसे कुछ आदेश देते हैं। पर कभी कभी इन सभी बातोंका पता शिष्यको अपनी

भूलोकीय चेतनामें बहुत दिनों तक नहीं लगता। इन सब बातोंमें गुरुदेव शिष्यके ही हितका ध्यान रखते हैं और जिस प्रकारसे उसके अधिकसे अधिक हित होनेकी संभावना होती है वही करते हैं।

> परन्तु बिना प्रथम महायुद्धमें विजय प्राप्त किये सीखना असंभव है। मन सत्यको स्वीकार कर ले, पर आत्मा उसे ग्रहण नहीं कर पाता।

जीवात्मा, ज्योंही वह जागृत होने लगता है, हमारी पार्थिव चेतना पर प्रभाव डालनेका प्रयत्न आरंभ कर देता है, परंतु अनेक विघ्न पड़ते हैं। जब तक वासना-शरीर वशमें नहीं आ जाता, वह प्रभाव पड़ता नहीं। पहिली लड़ाई तो काम, क्रोध, मोह, लोभादिसे, अपनी इंद्रियोंसे लड़नी पड़ती है और उन पर विजय पानी होती है। उस विजयके बाद भी मन पर विजय पाना है; वह वासना-शरीरसे भी चंचल और दुर्धर्ष है। उसे भी वशमें करना है। इन सबको वशमें कर लेने पर ही जीवात्माका भेजा प्रभाव नीचे तक उतरता है और हमारा पार्थिव ज्ञान और हमारा आत्मिक ज्ञान एक हो जाता है। परंतु ज्ञान भी क्रमशः मिलता है। प्रत्येक दीक्षाके अवसर पर कुछ और कुंजी हमारे हाथमें आती है और हमारी दृष्टिमें जीवनका रूप ही दूसरा हो जाता है। उस समय वही हमें यथेष्ट जान पड़ता है, पर आगे और बहुत कुछ जाननेको पड़ा है, यह न भूलना चाहिए। गुरुदेव आवश्यकतानुसार ज्ञान देते जाते हैं।

> पर जब एक बार आंधी और झंझावातको पार करके शांति प्राप्त कर ली जाती है

तब सीखना सदैव संभव रहता है, चाहे शिष्य हिचककर आगा-पीछा करे और साधन-पथसे विमुख भी हो जाय। नीरवताकी वाणी (द वॉएस ऑफ द साइलेन्स—अंतर्नाद) उसके साथ रहती है और चाहे वह साधन-पथको सर्वथा छोड़ भी दे फिर भी एक दिन उसकी गूँज उसे सुनाई देगी और उसे चीर डालेगी और उसकी वासनाओंको उसकी दिव्य संभावनाओंसे नोचकर दूर कर देगी। तब अत्यन्त पीड़ाके साथ और अपने परित्यक्त निम्नात्माके निराश चिल्ल-पुकारके मध्यमें वह फिर (साधन पथपर) लौट आयेगा।

इस प्रकारका आगा-पीछा करनेसे सचमुच बड़ा कठोर संघर्ष होगा। हमें समयसे सचेत हो जाना चाहिए और ऐसा अवसर न आने देना चाहिए। निम्नात्मासे संघर्ष तो बराबर चलता रहता है; यदि साधक उसके वशमें होकर अपने उच्च प्रयत्नों को छोड़ देता है, तो बड़ी पीड़ाके साथ उसे लौटना पड़ेगा, क्योंकि एक बार उस साधन स्रोतमें प्रविष्ट होनेपर पार जाने परही छुटकारा होता है।

इसीलिए मैं कहता हूँ, तुम्हें शांति प्राप्त हो। 'मैं अपनी शांति तुम्हें देता हूँ' ये शब्द तो गुरुदेव ही अपने प्रिय शिष्योंसे कह सकते हैं, जो शिष्य उन्हींके समान हो गये हैं।

यहाँ पर शांति वचनके दो प्रकारोंका अन्तर बताया गया है। एक प्रकार का तो साधारण है और किसीसे भी विदा होते समय कहा जा सकता है, किन्तु दूसरे प्रकारका शांति वचन गुरुदेव अपने शिष्यके लिए ही कह सकते हैं। यहाँ शिष्यको उन्हींके समान कहा है। शिष्य गुरुके समान सर्वथा तो हो नहीं सकता, फिर भी वह उनके स्वभावका किसी हद तक भागीदार होता है।

जो लोग पौर्वात्य ज्ञानसे अनभिज्ञ हैं, उनमें भी कुछ ऐसे लोग हैं जिनसे ये शब्द कहे जा सकते हैं और जिन्हें यह आशीर्वाद प्रतिदिन अधिक पूर्णताके साथ दिया जा सकता है।

यह एक बड़ी विचित्र लगनेवाली बात यहाँ कही गयी है। पूर्वीय ज्ञानसे अनभिज्ञ लोग भी इस आशीर्वादके अधिकारी हो सकते हैं, यही इन शब्दोंका आशय है। गुरुदेवके जगत्में प्रविष्ट होना, गुरुदेवकी दृष्टिसे वस्तुओंको देख सकना, अपनेको उन्हींके मनोभावसे एकाकार कर देना—यही गुरुदेवके शिष्य होनेकी शर्तें हैं। ये गुण मनुष्यमें बिना पूर्वीय ज्ञानको प्राप्त किये भी हो सकते हैं यद्यपि ऐसे लोगोंकी संख्या बहुत कम हो। गुरुदेव की मनोदृष्टिका सबसे प्रधान लक्षण है निःस्वार्थ भाव, निम्नात्माका सर्वथा अभाव। सभी वस्तुओंको गुरुदेव दैवी विधान की ही दृष्टिसे देखते हैं—जो मानव-विकासके अनुकूल है शुभ है, जो प्रतिकूल है वह अशुभ। जो जितनेही निःस्वार्थ भावसे गुरुदेवका सामीप्य प्राप्त करेगा, वह उतनाही अधिक उनके इस आशीर्वादका अधिकारी होगा।

△

तीन सत्यों पर ध्यान दो। वे समान हैं।

इस पंक्तिके पहिले एक त्रिकोण है। वह एक प्रकारसे गुरुदेवका हस्ताक्षर है और हमारा ध्यान विशेष रूपसे आकृष्ट करनेके लिए यहाँ दिया गया है। जिन तीन तथ्योंकी ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया गया है उनका वर्णन महात्मा हिलेरिअनने अपनी लिखाई हुई दूसरी पुस्तक 'श्वेत कमलकी कथा' (द इडिल् ऑफ द ह्वाइट लोटस्) में किया है। जितना चाहिए था उतना ध्यान लोगोंका उस पुस्तक पर नहीं गया है। यह गुरुदेवके एक पूर्व जन्मकी कथा है और इसमें मिश्रदेशकी एक घटनाका वर्णन है। वहाँका धर्म पतनोन्मुख हो गया था और उसकी उपासनामें पूर्ण पवित्रताकी इतनी अपेक्षा न की जाती थी, जितनी कि प्रेमोन्मत्तताकी। परिणाम स्वरूप व्यभिचारका जोर था। मिश्रके एक मन्दिरके उस जन्ममें गुरुदेव सेन्सा नामक एक दिव्यदृष्टि-प्राप्त शिष्य थे। वहाँके पुजारी उनकी उपयोगिता जानते थे, किन्तु उन्हें सत्य धर्मकी वास्तविक शिक्षा देना न चाहते थे, क्योंकि उससे उनके अधिकारोंमें ठेस लगनेकी संभावना थी। अनेक कठिनाइयोंके बाद एक बार सेन्साकी सिद्ध पुरुषोंसे भेंट हुई। इन महात्माओंमें उनके अपने गुरुदेवभी थे। इन्होंने सेन्साको, वहाँके लोगोंको, जिन्हें भ्रमपूर्ण शिक्षासे पथभ्रष्ट किया जा चुका था, सत्य धर्मका उपदेश देनेकी आज्ञा दी। जिन शब्दोंमें वह उपदेश किया गया उनका उद्धरण इस पुस्तकके अन्तमें है।

आरम्भमें लिखा है 'तीन सत्य हैं जो संपूर्ण और शाश्वत हैं और कभी नष्ट नहीं हो सकते, किन्तु जो वाणीके अभावमें मूक बने रह सकते हैं।' आशय यह है कि सिद्ध संघके अधिकारमें होनेके कारण ये सत्य कभी खो नहीं सकते यद्यपि वे कुछ समयके

लिए संसार पर अप्रकट रह सकते हैं, क्योंकि कोई उनका उपदेश नहीं करता।

प्रथम सत्य है: 'मानवका आत्मा अमर है और उसका भविष्य एक ऐसी वस्तुका भविष्य है जिसकी उन्नति और वैभव की कोई सीमा नहीं है।' इस सत्यके द्वारा नरकका भय नष्ट हो जाता है और परित्राणकी आवश्यकता भी नहीं रहती, क्योंकि प्रत्येक जीव, कितनाही विपथ क्यों न होगया हो, अवश्यही लक्ष्यको प्राप्त करेगा।

दूसरा सत्य है: 'जीवनदायी तत्त्वका निवास हमारे भीतर बाहर सर्वत्र है। यह तत्त्व अविनाशी है और शाश्वत कल्याण-मय है। वह न सुना जा सकता है, न देखा जा सकता है, न उसे सूँघ सकते हैं; परन्तु जो उसे जानना चाहता है वह जान सकता है।' इसका आशय है कि सृष्टि ईश्वरका व्यक्त रूप है मानव भी ईश्वरका अंश है और अपनेको ऊँची भूमिका पर उठाकर ईश्वर को जान सकता है और सृष्टिका समस्त क्रम परम कल्याणकी ओर अग्रसर होरहा है।

तीसरा सत्य है: 'प्रत्येक मानव पूर्णतया अपना भाग्य-विधाता है, अपने लिए सुख और दुख (सम्पत्ति और विपत्ति) का निर्माण करता है। अपने जीवन, अपने पुरस्कार और अपने दंडका नियामक वह स्वयं ही है।' यहाँ कर्मके नियमकी बड़ी स्पष्ट व्याख्या की गयी है।

और अंतमें कहा है: 'ये सत्य जीवनके ही समान विशाल हैं और सरलसे सरल मानवके मनके समान सरल हैं। बुभुक्षितों की क्षुधाको इनसे शांत करो।'

इन तीन तथ्योंमें धर्मकी सुंदर व्याख्या है। संक्षेपमें इन्हें

यों कह सकते हैं :—'मानव अमर है' 'ईश्वर मंगलमय है' और 'मनुष्य जैसा बोता है वैसाही काटता है।' अत्यन्त सामान्य मनुष्य इन्हें इस रूपमें समझ सकता है; अधिक विकसित जीव और गहराईसे इन्हें समझना चाहेगा। ज्ञानीसे ज्ञानी पुरुष भी इन पर मनन कर सकता है। इन तथ्योंका ज्ञान भी व्यक्तिकी विकासावस्थाके अनुसार कम या अधिक गहन होगा। यदि ये खो भी जायँ, तो भी अनुभवके द्वारा इन्हें आविष्कृत किया जा सकता है। हमें इन्हें अधिकाधिक अनुभवकी वस्तु बनानेका प्रयत्न करना चाहिए।

यह समझना तनिक कठिन है कि जन साधारणको क्या सिखाया जाय, क्या नहीं। इसलिए गुरुदेवका यह स्पष्ट आदेश हमारा पथ-प्रदर्शन करता है। कभी-कभी परम पवित्र तथा गूढ़ रहस्योंका जिस-तिससे वर्णन करके हम उन्हें उन रहस्योंका तिरस्कार करनेके पापका भागी बनाते हैं। इसलिए सबके सामने सब बातें कही नहीं जा सकतीं। जो जितनेका अधिकारी हो, उसे उतनाही बताना चाहिए। धर्ममें सबके योग्य बातें रहती हैं; जो जिस योग्य हो उसे उसकी शिक्षा दी जाय।

अंतमें इस पुस्तक-रत्न 'मार्ग प्रकाशिनी'के प्रथम भागकी समाप्ति चौहान विनीशिअन इन शब्दोंसे करते हैं।

ऊपर लिखे गये नियम उन नियमोंमें से आरंभ के हैं, जो नियम ज्ञान-मंदिरकी दीवालोंपर लिखे हैं। जो माँगेंगे, उन्हें मिलेगा। जो पढ़ना चाहेंगे, वे पढ़ेंगे। जो सीखना चाहेंगे, वे सीखेंगे।

शांति तुम्हें प्राप्त हो।

△

प्रथम भाग समाप्त।

मार्ग प्रकाशिनी

बेसण्ट-लेडबीटर भाष्य सहित

भाग २

अध्याय १

प्रस्तावना

'मार्ग प्रकाशिनी'के द्वितीयभागमें यह मान लिया गया है कि साधक प्रथम दीक्षा प्राप्त कर चुका है। इस भागमें सिद्ध-पद प्राप्तिके पथके यात्रीके लिए उपदेश दिये गये हैं। परंतु जानकारोंका कहना है कि इस भागके और भी गूढ़ आशय उन सिद्ध पुरुषोंके लिए हैं जो 'अशेष' पद प्राप्त करके और आगेकी श्रेणीकी ओर अग्रसर हो रहे हैं। स्वामी टी० सुब्बारावने श्री लेडबीटरसे कहा था कि इस पुस्तकके सात प्रकारके अर्थ निकलते हैं और प्रत्येक अर्थ भिन्न-भिन्न स्तरोंका है और साधकको महाचौहानके पद तक पथप्रदर्शन कर सकता है। किंतु ये सब हमारी समझके परेकी बातें हैं।

जो कुछ अभीतक हम मार्ग-प्रकाशिनीमें पढ़ते आये हैं, वह हमें अपने 'देहात्मा' (पर्सनालिटी) को नष्ट करनेका आदेश देता आया है। अब इस आदेशका अधिक उच्च और गहन अर्थ होगा, अपने व्यक्तित्वका विनाश या परित्याग। पहिले अर्थमें हमें अपने निम्नात्माका एकात्म्य उच्चात्मासे करना है; दूसरे अर्थमें हमें जीवात्माका एकात्म्य विशुद्धात्मा (मोनाड) से करना है। जो अर्थ पहिले भागका दूसरा अर्थ था, वही अब दूसरे भागमें पहिला अर्थ होगा। यदि यह हम बराबर ध्यानमें

रखें, तो कदाचित् इस भागके नियमोंके और ऊँचे अर्थकी भी कुछ झलक हमको मिल सके।

'नीरवता'मेंसे, जो स्वयं शान्ति है, एक गूँजती हुई वाणी प्रकट होगी। और यह वाणी कहेगी : 'यह अच्छा नहीं है ; काट तो तुम चुके, अब तुम्हें बोना चाहिए।' यह वाणी स्वयं नीरवताही है, यह जानकर तुम उसके आदेशका पालन करोगे।

तुम जो अब शिष्य हो, अपने पैरों खड़े रह सकते हो, सुन सकते हो, देख सकते हो, बोल सकते हो। तुम, जिन्होंने वासनाको जीत लिया है और आत्मज्ञान प्राप्त कर लिया है, जिन्होंने अपने आत्माको विकसित अवस्थामें देख लिया है और पहिचान लिया है, और नीरवताके नादको सुन लिया है, तुम अब ज्ञानमन्दिरमें जाओ और जो कुछ तुम्हारे लिए वहाँ लिखा है, उसे पढ़ो।

यह दूसरे भागकी प्रस्तावना है जिसे विनीशिअन महात्माने लिखा है। 'नीरवताकी वाणी' का क्या अर्थ है, इसके संबंधमें बहुत कुछ चिंतन और मनन लोगोंने किया है; परन्तु अब यह समझा जाता है कि इस वाक्यांशका सदा एकही अर्थ नहीं होता। एक मनुष्य जहाँ तक पहुँच चुका है उसके ऊपरका क्षेत्र उसके लिए 'नीरवता' का है। ऊपरसे आनेवाली वाणी 'नीरवताकी वाणी' है। यह अंतरात्माकी वाणी है।

यह वाणी नवदीक्षित साधकसे कहती है कि शांतिका आनंद उठाना और विश्राम करना अधिक समयतक उचित नहीं है। कुछ देर इस अद्भुत अवस्थाका निरीक्षण कर लिया जाय, नये ज्ञानके प्रकाशमें वस्तुएँ देख ली जायँ—यह उचित ही है; पर इसीमें अधिक समय व्यतीत नहीं किया जा सकता। वाणी उसे सचेत करती है और कहती है कि काट तो चुके, अब फिर बोओ। जो ज्ञान, जो निश्चय और जो शांति तुमने पायी है, उसका कुछ अंश औरोंको दो। स्वयंही उस स्थितिमें रहकर संतुष्ट न बने रहो।

टिप्पणी : खड़े रहसकनेका अर्थ है अपनेमें विश्वास रख सकना; सुन सकनेका अर्थ है अपने आत्माके कपाट खोल देना; देख सकनेका अर्थ है संवेदनशीलता प्राप्त कर लेना; बोल सकनेका अर्थ है, दूसरोंकी सहायता करनेकी शक्ति प्राप्त कर लेना।

'आत्माके कपाट' ये शब्द नित्यानित्य विवेकके संबंधमें पाली शब्द 'मनोद्वारवज्जन'की याद दिलाते हैं। परीक्ष्यमाण शिष्य होनेके समय ही यह विवेक करना होता है और 'मनका द्वार' खोलना होता है, किन्तु दीक्षाके समय और भी कपाट, आत्माके कपाट, खोलने होते हैं। कारण-शरीर तक विलगताका भाव बना रहता है। जब बुद्धिलोकीय चेतनाकी अनुभूति हो जाती है तब आत्माके कपाट खुल जाते हैं।

दीक्षित पुरुष प्रत्यक्ष रीतिसे ऐसी बहुतसी वस्तुएँ देख सकता है, जो साधारण मनुष्य नहीं देखते। न देखने पर भी दीक्षा-

प्राप्त व्यक्तिको बहुतसे तथ्योंका निश्चय हो जाता है ; उनके प्रमाण उसे मिल जाते हैं।

यह ध्यान देनेकी बात है कि सहायता करनेका सबसे सरल ढंग गुरुदेवने 'बोल सकने'को कहा है। ब्रह्मविद्याके विद्यार्थीके लिए सबसे अधिक सहायताका कार्य है दूसरोंको ब्रह्मविद्याके तथ्य समझाना। जितना कुछ अपनी समझमें आगया है, उसे दूसरोंको भी समझा दें। जो अपने प्रत्यक्ष अनुभवसे बोलता है, वह तो अधिक प्रभावशाली होताही है और यदि वह भाषणकला प्रवीण हो तब तो बात ही क्या है! किन्तु साधारण मनुष्य भी अपनी समझी हुई और अपने निश्चयकी बातें औरों-को समझाकर उनकी सहायता कर सकता है। हमें अधिकाधिक अध्ययन करना चाहिए और उन शिक्षाओंको जीवनमें उतारना भी चाहिए, तभी हमको बोल सकनेकी शक्ति प्राप्त होगी और हम वाणी द्वारा लोगोंकी सहायता कर सकेंगे।

> वासनाको जीत लेनेका अर्थ है, देहात्माको उपयोगमें ला सकना और उसको अनुशासनमें रख सकना; आत्मज्ञानको प्राप्त करलेनेका अर्थ है, अपने अन्तरके दुर्गमें प्रविष्ट हो जाना जहाँसे देहात्मा को निष्पक्ष दृष्टिसे देखा जा सकता है;

यह अंतरका दुर्ग है हमारा जीवात्मा। आगे बढ़कर अंतरका दुर्ग विशुद्धात्मा हो जायगा, जिससे जीवात्माका एकात्म्य करना होगा। विशुद्धात्मा अपनी एक किरण अपनी भूमिकाके नीचेवाले निर्वाणलोकमें डालता है। यही किरण तीन भागोंमें विभक्त होकर आत्माकी त्रयी बन जाती है और निचले लोकमें ये तीन पहलू आत्मा-बुद्धि-मनसके रूपमें प्रकट

होते हैं। यही त्रयी मिलकर जीवात्मा कहलाती है। इस प्रकार जीवात्मा विशुद्धात्माका अंशतः व्यक्त स्वरूप है। लेकिन जीवात्मा स्वतंत्रसत्ताधारीके समान आचरण करता है। साधारण मनुष्य भी अपनेको एक अलग व्यक्ति समझता है और आत्माको कुछ अस्पष्टसी उड़ती हुई वस्तु समझता है। हमें जीवात्माकी दृष्टिसे देहात्माको देखना चाहिए और फिर विशुद्धात्माकी दृष्टिसे जीवात्माको।

> आत्माको विकसित अवस्थामें देख लेनेका अर्थ है,
> क्षणमात्रके लिए अपने उस रूपान्तरकी झलक पा
> लेना जो रूपान्तर अन्तमें तुम्हें मनुष्यसे परे पहुँचा
> देगा, महात्मा बना देगा;

जब मनुष्यको बुद्धिलोकीय चेतना प्राप्त हो जाती है, तब उसको बहुत कुछ समझमें आ जाता है, भावना भी विचित्र रीतिसे पूर्ण और सजीव हो जाती है। इस अनुभूतिकी चर्चा गुरुदेव यहाँ विविध प्रकारसे कर रहे हैं। 'मनुष्यके परे' पहुँच जानेका अनुभव सूर्यमंडलके ईश्वरसे एकात्म्यकी अनुभूति है। परंतु इस अनुभूतिकी प्राप्ति पहली दीक्षामें नहीं होती, केवल झलक मिलती है, एक स्पर्श सा प्राप्त हो जाता है, पूर्ण बुद्धिलोकीय चेतनाकी प्राप्ति नहीं हो जाती। परंतु इस क्षणिक अनुभवसे भी विलगताका भ्रम नष्ट हो जाता है। मानव-विकासकी निर्भ्रान्त सत्यताका निश्चय उसे हो जाता है। सिद्ध पुरुषके लिए इन वाक्योंका अर्थ और भी गहन होगा और ईश्वरसे एकात्म्यका भान सिद्धपुरुषको हो जाता है।

> पहचान लेनेका अर्थ है, बिना पलक गिराये
> उस परम प्रज्वलित प्रकाशकी ओर देख सकते

रहनेके महाकार्यमें सफल हो जाना और उससे
भयभीत होकर इस तरह पीछे न लौट जाना, मानो
किसी भयङ्कर प्रेतमूर्तिको देख लिया हो।
ऐसा किसी-किसीको होता है और इस प्रकार
जीती-जिताई विजय हारमें परिणत हो जाती है।

इतने ऊँची अवस्थासे भी किसीका पतन हो, यह विचित्र लगता है; फिर भी ऐसा कभी कभी होता है। इसलिए भयकी संभावना पहिलेसे ही दूर कर डालनी चाहिए। परंतु लोग इस उच्चावस्थासे भय खाते हैं, क्योंकि उन्हें अपने व्यक्तित्वको खो देनेका भय लगा रहता है। किसी किसीको मृत्युका भी भय इसी प्रकार होता है; जाने आगे किसी प्रकारका जीवन हो या न हो! कारण-शरीर जन्म-जन्मांतरमें एक ही रहता है। कभी कभी जीव, कारणशरीरके साथ-साथ व्यक्तित्वको खोनेके डरसे, बुद्धिलोकके प्रकाशको भी अपनानेमें हिचकता है। एकात्म्यमें घुलमिल जानेकी संभावनासे घबराता है; वह नहीं जानता कि बिंदु सिंधुमें खो नहीं रहा है, सिंधुही बिंदुमें समा रहा है।

यही हिचकिचाहट मनोलोकमें क्रियाशील होनेवाले व्यक्तिको कारण-शरीर मात्रसे एकीकृत होनेमें भी होती है। मनुष्य अपनी शक्ति और उत्साहके बलपर आगे बढ़ता है; हिचकिचाहट का अर्थ है कि उत्साह कुछ घट गया है। एक प्रकारसे हिचकिचाहट स्वाभाविक भी है; क्योंकि यदि चैतन्य रह सकनेकी अपनी सामर्थ्यसे और ऊँचे स्तरपर मनुष्य पहुँच जाता है, तो वह वहाँ निश्चेष्ट और अचेत हो जाता है। जिसे भारतमें 'समाधि' कहते हैं, उसकी भी अनेक अवस्थाएँ हैं और भिन्न भिन्न व्यक्तियों

के लिए 'समाधि'का रूप भी भिन्न होता है ; केवल भूलोकपर सचेत रहनेवाले वर्वरके लिए भुवर्लोकपर ही 'समाधि' लग जायगी। हममें से अधिकांशके लिए कारणशरीरमें प्रविष्ट हो जाना ही 'समाधि' है। इन सभी अवस्थाओंमें आनंदकी अनुभूति होती है, परंतु न कुछ स्पष्ट ज्ञान रहता है, न कार्यशक्ति वढ़ती है।

इस प्रकारकी समाधि, अपने चेतनावस्थासे परेकी अवस्थाके अभ्यासको हमारे गुरुदेवगण प्रोत्साहन नहीं देते। 'ऊँचीसे ऊँची स्थितिपर उठो, यदि उठ सको ; किंतु सचेतावस्थामें। धीरे धीरे सचेत रीतिसे आगे वढ़ो ; जल्दी करके कूदो नहीं।' ऐसा उनका आदेश है। कभी कभी इस प्रकारके प्रयोग भयंकर भी हो सकते हैं।

पथसे पिछड़कर पतनोन्मुख होनेकी संभावना प्राचीन मिश्रकी गुप्त विद्याके मठोंमें दीक्षाके समय स्पष्ट की जाती थी। साधकको वताया जाता था कि उसे न तो उतावलेपनसे काम लेना चाहिए और न डरपोकपनसे। जव दीक्षार्थी गुप्त मंदिरके द्वारपर लाया जाता था तो उसके गलेमें रस्सी डाल दी जाती थी और छातीसे तलवारकी नोक छूती रहती थी। आगे झपटने या पीछे हटने, दोनों ही दशामें उसके लिए आशंका स्पष्ट थी। पीछे उसे इसका भेद वताया जाता था कि न झपटना चाहिए और न भय खाकर पीछे हटना। मनुष्यको शांत होकर आत्मविश्वाससे काम लेना चाहिए।

मैडम व्लैवैट्स्कीने, जो किसी भी प्रकार डरपोक नहीं कही जा सकतीं, मिस्टर लेडवीटरसे कहा था कि जव वे पहिली बार इस पृथ्वीके अधिपति भगवान् सनत्कुमारके समक्ष लायी गईं, तो

८

उनके प्रतापी मुखकी ओर वे देख भी न सकीं और सिर नीचे करके धराशायी हो गईं। सभी पर इस प्रकारका प्रभाव नहीं पड़ता; परन्तु मैडम ब्लैवेट्स्की सरीखी साधिकाके अनुभवसे हम अनुमान कर सकते हैं कि सूर्यमंडलके अधिपतिके प्रतिनिधिके समक्ष उपस्थित होना एक सामान्य घटना नहीं है।

परन्तु यहाँ पर जिस ज्योतिके दर्शनकी बात कही है, वह पृथ्वीके अधिपतिका दर्शन नहीं है; वह तो अपने ही उच्चात्माका साक्षात्कार है; उस अनुभूतिसे भी लोग हिचकते हैं जैसा कि ऊपर कहा गया है। हमें जानना चाहिए कि कितने ही साधकोंने यह साक्षात्कार किया है और खो नहीं गये हैं। मनुष्यको अभ्यास करना चाहिए कि सभी अवस्थाओंमें वह सोच समझ कर काम करे, झिझके या हिचकिचाये नहीं। लोग कभी-कभी इस प्रकार हिचकिचाकर जीती बाजी हार जाते हैं। यह बड़े दुःखकी बात है। हमें अभ्यास करना चाहिए कि हमारी प्रतिक्रिया इस प्रकारकी न हो।

कहा जाता है कि जितनी ही ऊँची अवस्था साधककी हुई होती है, पतन होने पर वह उतने ही अधिक नीचे गिरता है। इसके अनेक कारण हैं; एक तो वह उस दिव्य शक्तिका जिसे उसने प्राप्त किया है, दुरुपयोग कर सकता है; वह शिष्य-समूह द्वारा निर्मित पात्रमें, अपनी स्थितिके कारण, एक छिद्र बनकर शक्तिको नष्ट होने दे सकता है। अपने शिष्य-समूहके द्वारा सिद्ध महात्मा लोग शक्तिका प्रवाह भेजते हैं। यदि यह समूह दूषित है, तो शक्ति नष्ट होती है। यों तो कोई भी पतन सदाके लिए नहीं होता, क्योंकि भगवानकी इच्छा ही है कि सभी एक दिन लक्ष्यको प्राप्त हों, किंतु इन पतनोंसे अवसर चूक जाता है और दूसरा अवसर प्राप्त होनेके पहिले बहुत समय नष्ट होता है।

'आत्म-विश्वास होना चाहिए' कहना सरल है, किंतु समय पर यह विश्वास रख सकना अत्यंत कठिन है। फिर भी असफल होने पर भी, जो प्राप्त किया है वह तो पासमें रहता ही है और भविष्यमें प्रयत्न करनेके लिए उपयोगी सिद्ध होगा। पतन अथवा उन्नति, जो कुछ होता है, कर्मानुसार होता है। जितना प्राप्त कर लिया है, वह पुनः सहजहीमें प्राप्त होगा; आगेके लिए फिर और प्रयत्न करना पड़ेगा।

> नीरवताकी वाणी सुननेका अर्थ है यह समझ जाना कि एकमात्र पथनिर्देश अपने अन्तरसे ही प्राप्त होता है; ज्ञानमन्दिरको जानेका अर्थ है उस अवस्थामें प्रविष्ट होनेका, जहाँ ज्ञान-प्राप्ति संभव होती है। तब तुम्हारे लिए वहाँ बहुतसे शब्द लिखे होंगे और वे ज्वलन्त अक्षरोंमें लिखे रहेंगे जिससे तुम उन्हें सरलतासे पढ़ सको; क्योंकि जब शिष्य तैयार हो जाता है, तो श्रीगुरुदेव भी तैयार हो जाते हैं।

ऊपर कहा जा चुका है कि ज्ञान-मंदिरका आरम्भ भुवर्लोकमें होता है। यही सबसे नीचा लोक है जहाँ मनुष्य ऊँची अवस्थाकी कुछ भी बातें व्यावहारिक रीतिसे समझ सकता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि ऊँचे लोकोंमें कुछ सीखा ही नहीं जा सकता; स्वर्गलोकमें भी सीखनेको बहुत कुछ पड़ा है; परंतु सामान्य मनुष्यके लिए भुवर्लोकही ज्ञानका मंदिर है और जब स्थूल शरीरके बाहर मनुष्य भुवर्लोकमें जाता है, तो वहाँ उसे बहुत कुछ शिक्षा प्राप्त होती है।

गुरुदेवका शिष्यत्व प्राप्त करनेका ठीक आशय क्या है,

यह बहुत लोग नहीं समझते। कोई-कोई समझते हैं कि अब तो निरंतर गुरुदेवका उपदेशामृत पान करनेको मिलेगा, वे हमारे उन्नतिके संबंधमें विस्तृत रीतिसे हमें शिक्षा देंगे। परीक्ष्यमाण शिष्य होनेका अर्थ यह है कि हमारे साधारण जीवनका गुरुदेव निरीक्षण करते हैं; कुछ सिखाते नहीं। उद्देश्य यह है कि शिष्यके जीवनक्रम, उसके विचार और उसकी भावनाओंका चित्र ठीक-ठीक गुरुदेवके समक्ष स्पष्ट हो जाय, ताकि वे निर्णय कर सकें कि शिष्यको अधिक निकट लानेसे कुछ लाभ होगा या नहीं। उन्हें यह समझ लेना होता है कि लोकहितके कार्यमें उसे शिष्य बना लेनेसे और अधिक विघ्न तो न पड़ेगा। परीक्ष्यमाण अवस्थामें शिष्यको शक्ति प्रवाहकी नलीके रूपमें उपयोगमें लाया जा सकता है और उसका ऐसा उपयोग होता भी है; किंतु जब शिष्य गुरुके और निकट संपर्क में आ जाता है—स्वीकृत शिष्य हो जाता है—तभी उसका गुरुदेवसे निरंतर संपर्क बना रहता है। गुरुदेवकी शक्तिका प्रवाह फिर तो शिष्यके द्वारा संसार तक होता रहता है, किंतु कोई विशेष शिक्षा तो गुरुदेव कभी कभी ही देते हैं।

अधिकतर तो शिष्यके शिक्षणकी जिम्मेदारी किसी बड़े शिष्यको सौंप दी जाती है। श्री लेडबीटरका बहुत कुछ शिक्षण गुरुदेवकी ओरसे मैडम ब्लैवेट्स्कीने किया था, सो भी पत्रों द्वारा और भुवर्लोकपर, क्योंकि वे पाँच वर्ष मैडमसे दूर भारतमें थे और मैडम यूरोपमें थीं। फिर स्वामी टी० सुब्बाराव ने लेडबीटर साहबको बहुत कुछ सिखाया बताया। गुरुदेवके दर्शन तो उन्हें कभी कभी ही होते थे और तब भी कुछ शिक्षा देनेके लिए नहीं, पर कुछ आज्ञा देनेको। किसी कार्यको करनेके प्रयत्नमें ही शिष्यका बहुत कुछ शिक्षण हो जाता है; उसे अपनी

कमियोंका ज्ञान होता है और वह उन्हें पूरी करनेकी चेष्टा करता है। इसी स्वावलंबी प्रयत्नसे लेडबीटर साहबने बहुत कुछ शिक्षा प्राप्त की। फिर पीछेसे स्वामी सुब्बारावजी उन्हें किसी कार्यको करनेका अधिक उत्तम ढंग बता देते थे; परंतु इस सबमें बड़ा परिश्रम करना होता था। कार्य करके ही और भी बड़े कार्य करनेकी योग्यता आती है। गुरु और शिष्यके पारस्परिक संबंधके बारेमें अधिक विस्तारसे 'द मास्टर्स एण्ड द पाथ'में लिखा गया है। (इस पुस्तकका संक्षिप्त हिंदी अनुवाद 'जीवन्मुक्त और मुक्तिमार्ग' नामसे प्रकाशित हुआ है।)

शिष्यको सीखनेके अनेक अवसर मिलते हैं। हममेंसे सभीको उनमेंसे अधिकांश अवसर भुवर्लोकमें मिल सकते हैं, यदि हम उनसे लाभ उठानेका प्रयत्न करें। कुछ उन्नत शिष्य भुवर्लोकमें साधकको ब्रह्म-विद्याके तत्वोंका उपदेश भी देते हैं। स्वर्गीय श्री ए० पी० सिनेट जो पहिले सोसायटीके उपाध्यक्ष थे, भुवर्लोक पर इस प्रकारका उपदेश-कार्य करते थे।

अध्याय २

सूत्र १ से ४ तक

पिछले अध्यायमें हमने अपनी पुस्तक 'मार्ग प्रकाशिनी' के द्वितीय भागकी प्रस्तावनाका अध्ययन किया था। अब हम मूल पुस्तक पर आते हैं। इस भागमें भी १ से ३, ५ से ७ और ९ से ११ तकके सूत्र तो ताड़पत्रकी पुस्तकके मूल सूत्र हैं; नियम ४, ८ और १० में श्री चौहानकी अपनी व्याख्या है। आगे फिर क्रम-संख्या दूसरे प्रकारसे दी गयी है।

इस अध्यायमें नियम १ से ३ तक पर विचार किया जायगा और नियम ४ का तत्संबंधी अंश प्रत्येक नियमके साथ-साथ समझाया जायगा।

१. भावी जीवन-संग्राममें साक्षीभात्र रखो। सारथीके रूपमें नहीं, वरन् सैनिक बनकर युद्ध-क्षेत्रमें प्रवेश करो।

वह तुम्ही हो, फिर भी तुम सीमित हो और भूल कर सकते हो; वह शाश्वत और निःसंशय है। वह शाश्वत सत्य है। जब एकबार वह तुममें प्रविष्ट हो चुका और तुम्हारा योद्धा बन गया,

तो फिर वह तुम्हे कभी सर्वथा त्याग न देगा।
और महाशांतिके दिन वह तुमसे एकात्म हो
जायगा।

शिष्यको युद्ध करना ही होगा; उसे अपने चारो ओर होनेवाले विकास-क्रममें अपनेको डाल देना होगा। वह आत्माकी ओरसे प्रयत्न करेगा। आत्मा बराबर प्रकृतिको, जड़पदार्थको उपयोगमें लाना सीख रहा है। पदार्थके एक रूपको जीतकर उससे और ऊँचे रूपको उपयोगमें लाना सीखता है। सभी स्तरों परके पदार्थ पर आत्मा अधिकार प्राप्त कर रहा है। यह क्रम चारो ओर चल रहा है और हम विकासकी शक्तियोंका मार्ग सरल बनानेमें योग देनेका प्रयत्न करते हैं।

विकासके प्रयत्नके इस युद्धमें हमें अपने देहात्माको दूर हटा देना चाहिए। देहात्माका उपयोग एक साधनमात्रके रूपमें होना चाहिए। उसी साधनके द्वारा हम अन्य मनुष्योंसे संपर्क प्राप्त करते हैं, परंतु देहात्माको, अहंकारको, हमें आगे बढ़ने न देना चाहिए। उसकी शक्तिका प्रयोग करते हुए प्रत्येक लोकमें हमें देहात्माके बंधनसे मुक्त होनेका प्रयत्न करना चाहिए। हमें धीरे-धीरे स्थूल, वासना और मनोमय, तीनों शरीरोंसे अपनेको विलग कर लेना चाहिए, पर साथही उनके द्वारा कार्य करनेकी शक्ति बनाये रखना चाहिए।

इस सूत्रका ऊँचा अर्थ तब निकलेगा, जब देहात्माको हटाकर मनुष्य अपने जीवात्मासे एकीकृत हो चुकेगा। तब उसे व्यक्तित्वको भी अलग हटा देना सीखना होगा और चेतनाको विशुद्धात्मामें प्रतिष्ठित करना होगा। विशुद्धात्मा जीवात्माके द्वारा सीधे कार्य कर सके, ऐसी व्यवस्था करनी होगी।

'योद्धा शाश्वत और निःसंशय है' यह वाक्य निम्नात्मासे अधिक जीवात्माके संबंधमें लागू हो सकता है; और जीवात्मासे अधिक विशुद्धात्माके संबंधमें तो यह अक्षरशः सत्य है ही। जीवात्मा भी आरंभमें भूल कर सकता है, पर देहात्मासे कहीं कम। विशुद्धात्मा तो भूल करता ही नहीं। परंतु यदि हम यह कहनेका साहस करें—क्योंकि विशुद्धात्माके विषयमें हमारा ज्ञान अत्यंत परिमित है—तो कह सकते हैं कि विशुद्धात्माको यहाँकी परिस्थितियोंका ज्ञान कुछ अस्पष्ट-सा ही रहता है। यों तो उसकी अंतः प्रवृत्ति सदैव सत्यकी ही ओर होती है। पर नीचे लोकोंमें हम विशुद्धात्मा और जीवात्माके सामान्य विचारोंको काममें लानेमें गलती कर जाते हैं और होना यह चाहिए कि निम्न लोकोंमें भी हम ठीक-ठीक कार्य करें—निम्नलोकोंका सर्वथा शुद्ध निरीक्षण और ज्ञान ही नीचे लोकोंमें उतरनेका उद्देश्य है। उनका विकास-क्रम अभी पूरा नहीं हुआ है, इसलिए विशुद्धात्मा और जीवात्माको निचले लोकोंका पूर्णतः शुद्ध और विस्तृत ज्ञान नहीं है। हमें उन्हींके आदेशोंके अनुसार कार्य अवश्य करना है, पर वे स्वयं अभी विकासशील हैं।

ऊँचे स्तर पर महाशांतिका दिवस निर्वाण प्राप्तिका दिवस है, निचले स्तर पर वह निम्नात्माके उच्चात्मासे एकीकृत होनेका क्षण है।

२. सारथीको खोजो और उसके वाहन बनो।

उसे खोजनेमें सतर्क रहो, नहीं तो लड़ाईके आवेश और उतावलेपनमें तुम उसके पाससे निकल जाओगे; और वह तुमको तब तक न

पहचानेगा जब तक तुम स्वयं उसे न जान लो। यदि उसके ध्यानसे सुननेवाले कानों तक तुम्हारी पुकार पहुँचेगी, तो वह तुम्हारे भीतरसे लड़ेगा और तुम्हारे भीतरके नीरस शून्यको भर देगा। और यदि ऐसा हुआ, तो तुम लड़ाईमें अंत तक शांत और बिना थके हुए अलग खड़े रह सकते हो और उसे अपनी ओरसे लड़ने दे सकते हो। तब तुम्हारे लिए एक भी चोट व्यर्थ मारना असंभव हो जायगा।

सूत्र २ के पश्चात् ४ में से बीचका अंश उद्धृत करके उसपर विचार किया जा रहा है। उच्चात्माके संबंधमें ऊपर कही बात कुछ विचित्रसी लगती है। जबतक कोई जीवात्माको देख न ले उसकी महत्ता और शक्तिका अनुमान नहीं हो सकता। जगत्में अवतरित व्यक्तिसे वह कितना अधिक ज्ञानवान है यह भी समझमें नहीं आता। पर यह सोचकर हमें अभिमान करनेका कोई अवसर नहीं है, क्योंकि सभी मनुष्योंका जीवात्मा वैसाही शक्तिशाली और ज्ञानवान है। बड़ेसे बड़े संत भी व्यक्त जगत्में अपनी महत्ताको पूर्ण रूपसे प्रकट नहीं कर पाते। फिर भी हमें अपने इस उच्च अंशको अपने व्यक्तित्व द्वारा प्रकट करनेका प्रयत्न करना चाहिए। हमारे देहात्मासे हमारा जीवात्मा कहीं सुंदर और विशिष्ट है; किंतु अपनेको विकसित करने, अधिक पूर्ण बनानेके लिए ही उसने देहात्माकी रचना की है। जीवात्माको विकासकी आवश्यकता है इसलिए हमें उसे पूर्ण समझनेकी भूल न करनी चाहिए। वह पूर्ण अभी नहीं है। उसे स्पष्टता

और पूर्ण सत्यता और यथार्थताकी आवश्यकता है। वह विशाल और सुंदर है, किंतु उसकी विशालता और सुंदरतामें एक प्रकारकी अस्पष्टता है।

जो अंश इस लोकमें अवतरित हुआ है उसके द्वारा वह अपना विकास करना चाहता है। विना कुछ अधिक विकसित हुए वह अपने निम्नात्माका ठीक-ठीक पथप्रदर्शन नहीं कर पाता। निम्नात्माके अनुभवों द्वारा ही वह अपने इच्छित कार्य कर सकेगा। विकासकी इच्छासे वह मानो अपनी अंगुलीकी नोकही निचले लोकोंमें डालता है। इस नोकके ज्ञानमें कुछ स्पष्टता आ जाती है और जब भूलोक-भुवर्लोक और स्वर्लोकके जीवन-चक्रके बाद वह लौटती है, तो कुछ थोड़ीसी स्पष्टता लेकर लौटती है। पशुयोनिमें समूहात्मा अनुभवसे धीरे धीरे बदलता रहा है। बिल्ली अथवा शेरके जीवनके कुछ अनुभव उस बिल्ली या शेरमें कुछ गुण ला देते हैं। वह खूब साहसी हो सकता है, किंतु जब यह साहसका गुण सारे समूहात्मामें वितरित हो जाता है, तो प्रत्येक शेर या बिल्लीको शतांश ही तो मिलता है। सारे समूहात्माको साहसी बनानेके लिए ऐसे अनेक जन्मोंके अनुभव अपेक्षित हैं।

यही बात जीवात्माके बारेमें भी ठीक उतरती है। एक जन्मके देहात्मामें जितनी दक्षता प्राप्त होती है वह जीवात्माके संपूर्ण कारणशरीरमें पहुँचकर उतनी ही तीव्र नहीं रह जाती। कई जन्मोंमें वह गुण पूर्ण रूपसे विकसित हो पायेगा, क्योंकि प्रत्येक जन्ममें वही देहात्मा तो अवतरित नहीं होता; अपनेमें से कुछही अंश जीवात्मा नीचे लोकोंमें उतारता है, और सोभी वही अंश एकसे अधिक बार नहीं।

जीवात्मामें विविध संभावनाएँ रहती हैं; उन्हें जगाने भरकी

देर रहती है। किसी प्रकारके महान् बलिदानसे साधारणसे साधारण आदमी भी अपनी बहुत कुछ उन्नति कर लेता है। यदि मनुष्य विधिविधानके अनुकूल कार्य करनेका प्रयत्न करे, तो जीव ऊँचे लोकोंसे उसके साथ सहयोग करता है और अपनेको देहात्मा द्वारा उँड़ेलसा देता है। अब देहात्माको अलग हट जाना चाहिए और योद्धाको युद्ध करने देना चाहिए।

किसी महान् युद्धमें जो सैनिक अपने आदर्शोंके लिए अपने देशकी स्वाधीनताकी रक्षाके लिए या किसी अत्याचारीको रोकनेके लिए अपने सुखको तिलांजलि देकर जीवनको संकटमें डालता है, वह इस प्रकार अपने उच्चात्माकी शक्तिका आवाहन करता है। साधारण गार्हस्थ्य-जीवनमें भी जो कोई अपना सारा जीवन किसी दूसरेकी सेवा शुश्रूषामें निःस्वार्थ भावसे लगा देता है उसे भी अपने उच्चात्मासे बल मिलता है और अगले जन्मके लिए उसे अधिक विशाल और उदार देहात्मा प्राप्त होता है।

निःस्वार्थ सेवाका कार्य करते हुए भी जो कोई अपने देहात्मा को, अपने अहंकारको, उसमें बाधा डालने देता है वह 'आवेश और उतावले पनमें' योद्धाके 'पाससे निकल जाता है।' अपने कार्यकी महत्ताकी शोधमें, कार्यकी विशालता और सफलतामें बाधा डालना देहात्माको प्रबल और उच्चात्माको निर्बल बनाता है। ऐसा कदापि न होने देना चाहिए; गुप्तविद्याके साधकोंके लिए ऐसी अहंकार-प्रेरित भूल असंभव होनी चाहिए; पर ऐसा होता है।

साधक-शिष्यको सावधान रहना चाहिए कि देहात्मा प्रबल न होने पाये। उच्चात्मा हमारी ओरसे युद्ध तभी करेगा जब हम अपने लक्ष्यमें ही अनुरक्त होंगे और अपने व्यक्तिगत अंशकी

चिन्ता न करेंगे। यदि हम उच्चात्माको भूलकर देहात्माके बहावमें वह जायँगे, तो हमें अपने उच्चात्माकी सहायता न मिल सकेगी।

> परंतु यदि तुम उसे ढूँढ़नेमें सतर्क न रहोगे, यदि तुम उसके पास होकर निकल जाओगे, तो तुम्हारी रक्षाका कोई साधन नहीं है। तुम्हारा मस्तिष्क चक्कर खाने लगेगा, तुम्हारे हृदयमें अनिश्चितता व्याप जायगी और युद्धभूमिके धूल-धुक्कड़में तुम्हारी आँखें और इन्द्रियाँ अपना काम न कर सकेंगी और तुम मित्र-शत्रुकी पहचान भी न कर सकोगे।

जब देहात्मा उच्चात्माकी प्रेरणाकी खोज नहीं करता, तब यही सब होता है। शत्रु और मित्रकी पहिचान नहीं रह जाती; अपने रागद्वेषके उद्वेगमें जो कुछ कोई कह दे, मान लेता है। कोई भी निंदक कुछ कह देता है और वह उसे सच समझ लेता है। जिस किसीको परनिंदा करते हुए देखें, उससे दूर रहना चाहिए। परनिंदा सुननेसे कुछ न कुछ तो मन मैला हो ही जाता है। इस लिए पर-निंदा पर कानही न देना चाहिए। जिसे हम अच्छी तरहसे जानते हैं, उसके बारेमें अपनी जानकारीसे काम लेना चाहिए, जिस-तिसकी कही-सुनी बातसे नहीं। कभी रुग्ण होनेके कारण लोग चिड़-चिड़े हो जाते हैं और कड़ी बात कह बैठते हैं। इतने ही पर उनके बारेमें अपनी राय खराब न कर लेनी चाहिए। हमें मित्रकी स्थायी सद्भावना पर विश्वास करना चाहिए।

इसी प्रकार देहात्मा, और अहंकारसे प्रेरित होने पर हमारी न्याय-बुद्धि, नष्ट हो जाती है। ईर्षासे आँखें अंधी हो जाती हैं। विना यथेष्ट प्रमाणके हम लोगोंके विरुद्ध राय कायम कर लेते हैं। इस प्रकारका सन्देह फिर देरमें मिटता है।

यह सब निम्न मनके अधिक प्रबल हो जानेका परिणाम है। मानव-जाति इस युगमें निम्न मनका ही अधिक विकास कर रही है। हममें विश्लेषणकी शक्ति बढ़ गई है। यों तो यह अच्छा ही है, पर विश्लेषणके साथ-साथ हममें समन्वयकी बुद्धि भी होनी चाहिए।

गीतामें लिखा है: विषयके चिंतनसे विषयोंसे लगाव हो जाता है, फिर इस लगावसे कामना उत्पन्न होती है, कामनाकी पूर्ति न होनेसे क्रोध होता है, क्रोधसे सम्मोह, सम्मोहसे स्मृति विभ्रम, और स्मृति विभ्रमसे बुद्धिनाश और बुद्धिनाशसे स्वयं मनुष्य नष्ट हो जाता है।

ठीक यही बात ऊपरके दिये सूत्र और उसकी व्याख्यामें कही गई है।

३. युद्धके लिए उसका आदेश प्राप्त करो और उस आदेशका पालन करो।

४. सेनापति मानकर उसकी आज्ञाओंका पालन न करो, वरन् इस प्रकार, मानों वह तुम्हारा ही स्वरूप है और उसके शब्दोंमें मानों तुम्हारी ही गुप्त इच्छाएँ मुखरित हो रही हैं। क्योंकि वह स्वयं तुम्हीं हो, परंतु तुमसे असीम रीतिसे अधिक ज्ञानी और शक्तिशाली।

हमें यह हृदयंगम कर लेना चाहिए कि जब कभी उच्च और नीचके बीच मतभेद हो, तो हम स्वयं उच्च ही हैं, यह न भूलें। आरम्भमें हम ऐसा अनुभव नहीं करते; परंतु इस शिक्षा पर विश्वास करते हुए हमें इसी निश्चयके अनुसार कार्य करना चाहिए कि उच्चात्मा ही हमारा असली स्वरूप है। धीरे-धीरे यही हमारी स्वाभाविक धारणा हो जायगी। हमारे लिए भयकी बात यही है कि कहीं हम अपने निम्नात्मासे अपना एकात्म्य करके अपने उच्चात्माको छोड़ न दें।

अध्याय ३

सूत्र ५ से ८ तक

सूत्र ५, ६, ७ और ८ एक समूहमें आते हैं। इस भाष्यमें सूत्र ८ के अंशोंको ५, ६, ७ के साथ बाँट दिया गया है। ८ वाँ अनुच्छेद इन तीन सूत्रों पर चौहान विनीशिअनकी व्याख्या है।

५. जीवनका संगीत सुनो।

इस सूत्र पर ८ वें अनुच्छेद वाली व्याख्यासे पहिले महात्मा हिलेरिअनकी एक टिप्पणी है।

> टिप्पणी—पहिले उसे अपने हृदयमें ही ढूँढो और ध्यानसे सुनो। आरंभमें तुम कदाचित् कहोगे कि 'यहाँ गीत तो है नहीं; मैं तो जब ढूँढता हूँ तो केवल बेसुरा कोलाहल ही सुनाई देता है।' और अधिक गहरे ढूँढो। यदि फिर भी तुम निष्फल रहो, तो ठहरो और औरभी अधिक गहरेमें फिर ढूँढो। एक प्राकृतिक संगीत, एक गुप्त जल-स्रोत प्रत्येक मानव-हृदयमें है; वह ढँका हो, बिल्कुल छिपा हो और नीरव जान पड़ता हो—किंतु वह है अवश्य।

तुम्हारे स्वभावके मूलमें तुम्हें श्रद्धा, आशा और प्रेमकी प्राप्ति होगी।

कहनेका तात्पर्य यह है कि जीवनके अंतरमें विकासावस्थाके अनुसार समस्त सृष्टिको संचालित करनेवाली शक्ति छिपी है। हमारे धर्मोंमें भी ईश्वरकी सत्ताकी सर्वव्यापकताकी चर्चा की गयी है। पर ईश्वरकी इस शक्ति, इस प्रेम, इस दयाका ठीक-ठीक अनुमान न करके, हम कभी-कभी ईश्वरसे भय खाते हैं और उसका एक अत्यंत भयंकर रूप कल्पित कर लेते हैं। क्या ईश्वर हमारी इस मूर्खतासे प्रसन्न होता होगा?

इस सर्वव्यापी शक्तिका एक रूप यज्ञका भी है, बलिदानका; किंतु दुखभरा बलिदान नहीं, नैवेद्यका बलिदान, खुशीसे आत्म-समर्पणका बलिदान। सृष्टिकी रचना करनेमें भगवत्शक्ति एक प्रकारसे अपनेको सीमितकर लेती है और यही उसका बलिदान है।

हमें इस सर्वव्यापी रचनात्मक शक्तिका अनुभव प्राप्त करनेका प्रयत्न करना चाहिए। यह शक्ति अमोघ है। यही शक्ति हमें एकात्म्यकी ओर ले जा रही है। कितनी सांत्वनाकी बात है यह, कितने संतोषकी, कि हम एक दिन उस व्यापक जीवनसे एकात्म्य प्राप्त कर ही लेंगे।

इसी शक्तिका एक रूप है एक विश्वव्यापी नाद, एक जीवन गीत। जब हम प्रत्येक वस्तुकी वरिष्ठताका अनुभव करते हैं, तब हम यह नाद, यह गीत सुन पाते हैं। जो कुछ सुन्दर है, सत्य है, शिव है, वह उसी शक्तिका रूप है। जब हम अपनी ऊँची चेतनासे संपर्क प्राप्त करते हैं या जब हम गुरुदेवका सान्निध्य प्राप्त करते हैं, तभी हम इस संगीतको सुनना प्रारम्भ

करते हैं। प्रयत्नकी सफलताका अनुभव होता है, एक प्रकारकी अनुपम शांतिकी, विजयकी भावना हृदयमें उठती है।

गुरुदेव आगे कहते हैं:—

> जो पाप-पथको ग्रहण करता है, वह अपने अंतरंगमें देखना अस्वीकार कर देता है, अपने कान हृदयके संगीतके प्रति मूँद लेता है, ठीक जैसे अपनी आँखोंको अपने आत्माके प्रकाशके प्रति अंधी कर लेता है। उसे अपनी वासनाओंमें लिप्त रहना सरल जान पड़ता है, इसीसे वह ऐसा करता है; परन्तु समस्त जीवनके नीचे एक वेगवती धारा बह रही है, जिसे रोका नहीं जा सकता। सचमुच गहरा पानी वहाँ मौजूद है। उसे ढूँढ निकालो और तब तुम जानोगे, कि कोई भी, क्षुद्रातिक्षुद्र प्राणी भी, ऐसा नहीं है जो उसका अंश न हो, चाहे कितना ही वह प्राणी अपनेको इस सत्यके प्रति अंधा बना ले, और अपने लिए एक भयंकर बाह्य रूपका निर्माण कर ले।

अपने अंतरंगका निरीक्षण न करनेके कारण ही मनुष्य पाप-पथ स्वीकार करता है। जान-बूझ कर पापको स्वीकार तो करता नहीं, पर वासनाओंमें फँस कर अपने असली स्वरूप को ढूँढता नहीं। अपने वासना-शरीरको ही आत्मा समझ लेता है। आत्म-निरीक्षणसे वही भयभीत होता है जो समझता है कि वह ठीक पथ पर नहीं है। वह अपनी भूलोंका सामना नहीं करना चाहता। आत्म-निरीक्षणसे ही आत्म-सुधारका श्रीगणेश होता है। किंतु यह भी संभव है कि आत्म-निरीक्षण

और उसके परिणाम स्वरूप आत्मग्लानि और पश्चात्तापमें मनुष्य इतना फँस जाय कि प्रयत्न ही छोड़ बैठे। होना तो यह चाहिए कि मनुष्य यह निश्चय कर ले कि क्या हम अपने उच्चात्मा द्वारा निर्देशित दिशामें उन्मुख हैं?

जो अपने दैवी स्वरूपको भुला देता है, वह सचमुच अपने लिए एक भयंकर रूप बना लेता है; उसकी सहायता करना भी कठिन जान पड़ता है। उसके वाह्य भयंकर रूपकी मायामें हम भूल जाते हैं कि विशुद्ध चेतनशील आत्मा अब भी है और उसे जगाया जा सकता है। आत्मा है, पर घने आवरणोंसे घिरा हुआ; उन आवरणोंको वेधकर आत्माके दर्शन करना चाहिए।

आगे गुरुदेव कहते हैं:—

> इसी अर्थमें मैं तुमसे कहता हूँ, कि वे सभी प्राणी जिनके मध्यमें तुम्हारा प्रयास और संघर्ष चल रहा है, ईश्वरके अंश हैं। और जिस मायामें तुम रहते हो वह इतनी छली है कि यह अनुमान करना कठिन है कि दूसरोंके हृदयोंकी मधुर वाणी पहिले-पहिल कहाँ सुननेको मिलेगी। परन्तु इतना जान लो कि तुम्हारे भीतर निस्संदेह वह वाणी मौजूद है। उसे वहाँ ढूँढो और जब एक बार उसे सुन लोगे, तो अधिक सरलतासे तुम उसे अपने आस-पासके लोगोंमें पहिचान सकोगे।

यदि कारण-शरीरवासीकी, आत्माकी दृष्टिसे हम देखने लगें, और यदि औरभी आगे बढ़कर बुद्धिलोककी दृष्टिसे देखने लगें, तो इस सबका अर्थ हमें स्पष्ट हो जाय। कविका

कथन कि 'बुराईका अस्तित्व ही नहीं है; नीरवता स्वयं नादका निर्देश करती है' पूर्ण रूपेण सत्य है। समस्त अशुभ लगने वाली वस्तुओंके पीछे वह महा प्रवाह वह रहा है, वह जीवन-संगीत सुना जा सकता है; यदि हम अपने अंतरंगमें डुबकी लगायें तो हम अस्तित्वके अंतस्तलमें कल्याणकारी शिवके दर्शन करेंगे।

अपने अंदरकी चिनगारीको प्रज्वलित करके अग्निशिखा बनाना है और इस प्रकार ईश्वरकी प्राप्तिका पथ पाना है। हमारे व्यक्तित्वने जो विलगताकी दीवार खड़ी कर दी है, उसे यह अग्निशिखा ध्वस्त कर डालेगी; परन्तु जो दक्षता अथवा शक्ति प्राप्त हुई है, वह नष्ट न होने पायेगी।

अब पाँचवें सूत्रकी चौहान विनीशिअनकी व्याख्या पर विचार करें।

> जीवनकी भी अपनी भाषा है और वह कभी मूक नहीं रहता, और उसकी वाणी एक चीत्कार नहीं है जैसा कि तुम जो बहरे हो कदाचित् समझो; वह तो एक गीत है। उससे सीखो कि तुम स्वयं उस सुस्वरताके अंश हो; उससे सुस्वरताके नियमोंका पालन करना सीखो।

बाह्य दृष्टिसे निचले लोकोंमें हमको बड़ी क्रमहीनता और गड़बड़ दिखाई देती है। संसारमें चारो ओर दुख और शोक, लोभ और घृणाके ही दृश्य दिखाई देते हैं और इस सबसे ऐसी धारणा होने लगती है कि यदि कोई जीवनके अंतस्तलको देख सकता, तो वहाँ दुख और निःसहायता ही मिलती। परन्तु

वास्तवमें ऐसा है नहीं; जीवनके मूलमें रुदन नहीं, संगीत है। ऊपर चाहे जितने भँवर और लहरें हों, नीचे जलका प्रवाह अविरत गतिसे होता रहता है। इस भौतिक जगतमें तो बहुधा हम विश्राम और शान्तिकी मांगकी ही पुकार सुन पाते हैं। ऊँचे लोकोंसे हमें यह अनुभव होता है कि जीवनकी पुकार शांति और विश्रामके लिए नहीं उठ रही है; जीवन तो विजयके गीत गाता हुआ ईश्वर द्वारा निश्चित लक्ष्यकी ओर बढ़ा जा रहा है। तुम स्वयं उस जीवनके अंश हो; उसके सुस्वरताके नियमों का पालन करो। यह सारी अद्भुत सृष्टि भगवत् इच्छाका व्यक्त रूप है और उन्हींके द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर चल रही है। यदि हम समझ पायें, तो हमारा भी लक्ष्य उसका एक सचेष्ट अंग बनना ही है; उनकी इच्छाको पहिचानना और फिर उसकी पूर्तिके लिए क्रिया-शील होना, यही हमारा कर्तव्य है।

सरल जीवन ही उच्च जीवन है, जो ऊँचे लोकोंमें यापन किया जाता है। पर यह सभीके लिए शक्य नहीं है। हमें तो स्थूल जगत्के लोकसेवाका, कर्मयोगका जीवन यापन करना है। जो सांसारिक कर्तव्योंसे भागकर वनवासी होते हैं, उनकी बात नहीं कहता, किंतु जो सांसारिक कर्तव्योंकी पूर्ति करते हैं, वे शीघ्र ही स्वतंत्र हो कर संन्यासके अधिकारी होते हैं। परंतु आजके युगमें मठके जीवनकी या वनवासी जीवनकी आवश्यकता उतनी नहीं है, जितनी समाजके बीचमें रह कर कार्य करनेकी।

६. स्वर-श्रुतिको स्मृति-पटपर अंकित करो।

जबतक तुम केवल मानव हो, तबतक उस

महा गीतके कुछ अंश ही तुम्हारे कानोंतक पहुँचते हैं। परन्तु यदि तुम ध्यान देकर सुनते हो, तो उन्हें ठीक-ठीक स्मरण रखो, जिससे कि जो कुछ तुम तक पहुँचा है, वह खो न जाय और उससे उस रहस्यका आशय समझनेका प्रयत्न करो, जो रहस्य तुम्हें चारों ओरसे घेरे हुए है। एक समय आयेगा जब तुम्हें किसी गुरुकी आवश्यकता न होगी। क्योंकि जिस प्रकार व्यक्तिको वाणीकी शक्ति है, उसी प्रकार उसे (सर्वव्यापी जीवनको) भी यह शक्ति है जिसमें व्यक्तिका अस्तित्व है।

यदि कान लगाओ, ध्यानदो तो, तुम कभी-कभी उस महा-गीतको सुन लोगे; फिर जो कुछ सुनो उसे याद रखो, ताकि जो कुछ तुम तक पहुँचा है खो न जाय। इस तरह उस महागीतके अंशोंको क्रमशः एकत्रित करके तुम अपने चारों ओरके रहस्यके आशयको समझ सको।

जो संपूर्ण जीवनको देख नहीं पाता उसके लिए जीवन एक रहस्य बना रहता है और विना ईश्वर (लोगॉस) से एकात्म्य प्राप्त किये संपूर्ण जीवनको देखा भी नहीं जा सकता। ईश्वर ही पूर्ण रूपसे उसे देख सकते हैं। उस महान चेतनाके नन्हे नन्हे अंश, हमलोग अपना एकात्म्य उससे कर सकते हैं। जितना अधिक एकात्म्य हमारा उस महान् चेतनासे हो सकेगा, उतना ही अधिक भान हमें उस रहस्यका होगा, उतनाही हम उसे समझ सकेंगे। जो उस जीवनगीतको सुननेके लिए प्रयत्नशील है, वह जो कुछ यहाँ देख पाता है, समझ पाता है, उस सबको एकत्र करता है।

कदाचित् यह सारी प्रकृति किसी अत्यंत सरल शक्तिका प्रकट रूप है; कुछ ही थोड़ेसे शक्तिप्रवाह विविध अवस्थाओंमें संचालित होकर हमारे चारो ओरकी इस समस्त सृष्टिका निर्माण होता है; किंतु हम अभी यह समझ नहीं सकते कि वे शक्तियाँ क्या हैं और किन नियमोंके अनुसार कार्य करती हैं। जितनीही खोज हम करते हैं उतनी ही जटिलता प्रकृतिमें हम पाते हैं; और यह हमें अत्यंत आश्चर्यजनक जान पड़ता है। वैज्ञानिक अभी हाल तक रासायनिक तत्त्वोंको पदार्थकी अंतिम इकाई समझते थे, किंतु दिव्यदृष्टि द्वारा बहुत पहिले ही पता चल गया था कि अंतिम पदार्थ-परमाणुकी बहुत बड़ी और विभिन्न संख्याओंसे किसी रासायनिक परमाणु (सोना, चांदी, ताम्बा आदि) का निर्माण हुआ रहता है। जैसे, सोनेके एक रासायनिक परमाणुमें ३५४६ अंतिम-पदार्थ-परमाणु रहते हैं, ऐसा दिव्य-दृष्टिवालोंकी शोधसे पाया गया है। ये अंतिम परमाणु सौर जगत्के ही समान एक आकर्षण-केन्द्रके चारो ओर परिभ्रमण करते रहते हैं।

पर यदि औरभी गहरे उतरा जाय तो कोइलॉनके* बुद्बुदे ही रह जाते हैं। यह कोइलॉन शून्यका ही पर्यायवाची कहा जा सकता है; इस दृष्टिसे सारा जड़जगत् माया-स्वरूप प्रतीत होता है और यही प्राचीन भारतीय शास्त्रोंका भी कथन था। इस बारेमें निश्चयके साथ तो कुछ कहा नहीं जा सकता, किंतु संभावना यही है कि इतनी जटिलताके होते हुए भी, समस्त सृष्टिकी तहमें संपूर्ण सरलता है।

७. उस स्वर-श्रुतिमेंसे संगीतका सृजन करो।

८. जो तुम्हारा ही रूप और तुम्हारा राजा है, उस योद्धाकी आज्ञा पालन करते हुए युद्धमें चट्टानकी

---

*देखो, थिऑसोफीके मूल-सिद्धान्त भाग २ पृ० २०६

तरह निश्चल रह सकते हो। युद्धमें उसकी आज्ञाका
पालन करनेके अतिरिक्त सर्वथा निर्लिप्त एवं युद्धके
परिणामके सम्बन्धमें अब पूर्णतया निश्चित हो जाओ,
क्योंकि महत्वपूर्ण बात तो केवल एक है कि योद्धा
विजयी हो—और तुम जानते हो कि पराजय उसके
लिए असंभव है—इस प्रकार शांत और सावधान
खड़े रहकर उस श्रवण-शक्तिका उपयोग करो जिसे
अत्यन्त कष्ट और कष्टके विनाशसे तुमने प्राप्त किया है।

सातवें सूत्रकी व्याख्या करते हुए ऊपर महात्मा विनीशिअन मनुष्यकी उस स्थितिका वर्णन कर रहे हैं जब कि मनुष्यका उच्चात्मा ही योद्धा हो जाता है। जब मनुष्य अपने उच्चात्माको ईश्वरीय स्वरूप समझ लेता है और उसीके आदेशोंका पालन मात्र करने लगता है, तब वह निश्चिंत हो जाता है। संसारमें कार्य करते हुए हम परिणामके संबंधमें चिंतित रहते हैं; हम समझते हैं कि यदि हम यथेष्ट प्रयत्न नहीं करते, तो सत्यकी विजय न होगी। किंतु सत्यकी विजय तो अंतमें अनिवार्य ही है; हमारे लिए अवश्य यह दुःखकी बात होगी कि हम सत्यकी विजयके लिए प्रयत्न न करें, किंतु सत्यकी विजय तो होगी ही। अपने उच्चात्माके आदेशोंके अनुकूल कार्य करते हुए यदि हम असफल होते भी जान पड़ें, तो भी हमें निश्चिंत रहना चाहिए। 'निमित्त मात्र' होकर हमें अनासक्त रीतिसे प्रयत्नशील होना चाहिए। आलस्य करके प्रयत्न न करना, यह अवश्य अनुचित है।

जीवनके रणस्थलमें जहाँ पुण्य और पाप युद्ध कर रहे हैं, विजय पुण्यकी ही होगी और अंतमें सभी विकसित और

उन्नत होंगे ही ; परंतु जो लोग यह कह कर, कि उचित परिणाम तो होगा ही, प्रयत्न करनेसे विरत होते हैं, वे अपने लिए अशुभ कर्मका संचय करते हैं। प्रयत्न न करके हम सत्यके विजयमें विलम्बके कारण बन रहे हैं।

उच्चात्माकी विजय होगी ही, यह जानने और इसके पहिलेकी स्थितिमें काफी अंतर है। न जाननेकी स्थितिमें भी मनुष्यकोकुछ अस्पष्टसी भावना रहती है कि उच्चात्मा विजयी होगा, किंतु बड़ी चिंता बनी रहती है और मनुष्य बड़ी व्यग्रताके साथ प्रयत्न करता है। परंतु जो इस तथ्यको जान जाता है, वह असफलतामें भी शांत बना रहता है और कार्य किये जाता है। कोई भी सत्प्रयत्न व्यर्थ नहीं जाता, सभीका अपना उचित स्थान रहता है ; परंतु यह जानते हुए कि किसी व्यक्तिका निजी प्रयत्न एक बहुत छोटा अंश ही हो सकता है, किसीको भी अभिमान न करना चाहिए। जगत् तो प्रगति-पथपर चलेगा ही ; हम चाहें तो बोझढोनेवाले बने, या फिर दूसरोंके लिए स्वयं बोझ बनें। बोझ ढोना या बोझ बनना प्रत्येक व्यक्तिका अपना चुना हुआ कर्म है।

जब देहात्मा, हमारा अहंभाव, दूर हो जाता है, और हमारा उच्चात्मा ही युद्ध करता है, तब हम शांत रीतिसे कार्य करते जाते हैं, मानो हम कुछ करते ही नहीं। इस प्रकार कार्य करते हुए हम जीवन-संगीत सुननेका प्रयत्न करते हैं। जबतक पीड़ा बनी है, तबतक हम युद्ध कर रहे हैं, अभी रास्तेमें ही हैं। जब पीड़ाका विनाश हो चुकता है, तब जगत्के युद्धके बीच भी जीवन-गीत सुनाई देने लगता है ; सारी गड़बड़ीमें भी मुख्य धाराका प्रवाह दिखाई देता है। पीड़ाकी नश्वरताका ज्ञान हो जाता है; उसका आशय समझमें आ जाता है और कष्ट देनेकी उसकी शक्ति नष्ट हो जाती है।

अध्याय ४

सूत्र ९ से १२ तक

अब हम तीसरे सूत्र-समूहका अध्ययन करेंगे। यहाँ भी मूल सूत्रके साथ १२ वें अंशमेंसे चौहान विनीशिअनकी तत्संबंधी व्याख्याको साथ-साथ लेंगे।

९. अपने आसपास अभिव्यक्त समग्र जीवनका सम्मान करो।

अपने आस-पासके निरंतर बदलनेवाले और चलायमान जीवनपर ध्यान दो, क्योंकि यह मानवोंके हृदयोंका ही बना है, और ज्यों-ज्यों तुम उनकी बनावट और उनका आशय समझोगे त्यों-त्यों क्रमशः तुम जीवनका विशालतर शब्द भी पढ़ और समझ सकोगे।

अधिकांश मनुष्य, जीवनका नहीं, वरन् उन्हें घेरे रहनेवाले रूप और आकारका ही निरीक्षण करते हैं। अंतर्वासी जीवन पर ध्यान नहीं देते। इसीलिए इतनी लापर्वाहीसे पेड़-पौधोंको काटनेमें तनिक भी हिचक उन्हें नहीं होती। प्रकृतिके सुंदर

स्वरूपको नष्ट करके उद्योग-उत्पादनके केन्द्र बनाते हैं और प्राकृतिक सौंदर्य की रक्षाका ज़राभी ख्याल नहीं रखते। पशुओंके साथ भी इसी कारण निःसंकोच अत्यंत निर्दयताका व्यवहार करते हैं। शिष्य-साधकको प्रत्येक रूपमें जीवन पर ध्यान देना चाहिए। समस्त जीवन ईश्वर (लोगॉस) का प्रकट रूप है। जो वस्तुएँ हमें अशुभ और पापमय जान पड़ती हैं, वे भी सृष्टिके विकासमें अपना निजी स्थान रखती हैं, क्योंकि सारी सृष्टिही ईश्वरका व्यक्तरूप है।

सभी मनुष्योंमें कुछ-न-कुछ मानवीय सद्गुण रहते ही हैं, कदाचित् ऐसे व्यक्तिको छोड़कर जिसके देहात्माने उच्चात्मासे सर्वथा नाता तोड़ लिया है। ऐसा कभी-कभी होता है, परंतु बहुत कम। देहात्माके इस पूर्ण विच्छेदका परिणाम होगा एक अत्यंत अपवित्र और पापमय जीवन। जीवात्मा जान-बूझकर पाप नहीं करता, किंतु देहात्मा उसके कब्जेसे बाहर हो जाता है। इसमें भी जीवात्माका दायित्व है; उसे देहात्माको अपने वशसे बाहर न होने देना चाहिए था। यह उसका पाप नहीं, उसकी दुर्बलता है। जीवात्मा इस पतनके बाद भी फिर अपनी प्रगति आरंभ करता है; पर कुछ समयके बाद ही। इस अनुभवके बाद जीवात्मा असंतुष्ट रहता है क्योंकि उसे अपने खोये हुए उच्च जीवन का कुछ भान-सा रहता है, इसलिए उसे अपनी स्थितिसे संतोष नहीं होता। पर यह तो कर्मभोग है और उसकी अपनीही कृतिका परिणाम है। कभी-कभी जीव इस देहात्माके विच्छेदके फल-स्वरूप किसी उच्च सभ्य समाजसे निकलकर बर्बर जातिमें जन्म ले सकता है। संभव है कि किसी प्राचीन युगमें पशुयोनिमें भी जन्म होना संभव रहा हो, परंतु जहाँतक जाना जा सकता है अब इसकी आशंका नहीं है।

गुप्तविद्याकी दृष्टिसे इस मानवजातिके अधिकांश मनुष्योंको पशुयोनिसे मानवयोनि प्राप्त किये हुए बहुत समय नहीं बीता है। जब पशुयोनिसे मानवयोनिमें प्रवेशका द्वार बंद करदेनेका समय आया, तब विशेष प्रयत्न करके बहुतसे जीव मानवयोनिमें प्रविष्ट किये गए, यद्यपि उनकी अवस्था विकासकी दृष्टिसे पशुयोनिसे अधिक ऊँची न थी। ऐसे जीव अभी भी बहुत उन्नत नहीं हो पाये हैं। सैकड़ों जन्म उनके जंगली परिस्थितिमें हुए होंगे और दो जन्मोंके बीचका अंतर भी बहुत ही कम रहा होगा। उनका अधिक समय स्थूल-शरीरमें ही व्यतीत हुआ है और भुवर्लोकीय जीवनकी संभावनाएँ भी बहुत धीरे-धीरे उनमें विकसित हुई होंगी। ये जीव बहुत प्रगति तो नहीं कर सकते पर विकासके क्रममें और पीछे जाने योग्य कर्म भी वे नहीं कर सकते, क्योंकि इतनी भी शक्ति उनमें नहीं है। वे तो धीरे-धीरे प्रगति करेंगे।

हम विच्छिन्न देहात्माकी बात कर रहे थे। ऐसा देहात्मा बिल्कुल विवेक शून्य होता है। उसके लिए दूसरा नर-जन्म संभव ही नहीं होता। पर कभी-कभी ऐसा देहात्मा मृत बालकके शरीरमें प्रविष्ट होकर उसे जिला लेता है और इस प्रकार एक जन्म और प्राप्त कर लेता है। कभी-कभी वह पशु योनिमें भी जा सकता है। मैडम ब्लैवेट्स्कीने कहा है कि कभी-कभी सर्पके शरीरमें ऐसा देहात्मा प्रविष्ट हो जाता है और उसे अपने मनुष्य होनेकी चेतना बनी रहती है। यह बड़ी अधोगति है, किंतु, जैसा ऊपर कह आये हैं, ऐसा होता बहुत कम है, कहीं विरले ही।

संसारमें सचमुच दुष्ट प्रकृतिवाले लोग इने-गिने ही हैं और उन बेचारोंके भी पक्षमें कुछ न कुछ कहा जा सकता है।

कभी-कभी समाजमें सम्पत्तिके वितरणको अन्याय-पूर्ण समझकर चोर चोरी करता है। पापको पाप समझकर कम ही लोग पाप करते हैं। ऐसे पापमें लिप्त लोगोंको विनष्ट आत्मा नहीं कह सकते।

चौहानका कथन है कि हमारे आस-पासका परिवर्तनशील जीवन मानवोंके हृदयोंद्वारा बना है। सचमुच हमारी बाह्यावस्थाका निर्माण हमारे भीतरके विचारों और भावनाओंसे होता है। समाज, राज्य-संचालन, धर्म-व्यवस्था, व्यापार और शिक्षा-प्रणालीको लोग दूषित ठहराते हैं, पर वे भूल जाते हैं कि ये सारी बातें देशकी बहुसंख्यक जनताकी आंतरिक स्थितिका ही मूर्तिमान स्वरूप हैं। हमारे ही कर्मके परिणाम स्वरूप प्राकृतिक दुर्घटनाएँ, भूकम्प और बाढ़ आदि, घटती हैं। हम घटनाओंको ही देखते हैं उनके पीछेकी जीवनी-शक्तिको नहीं देखते।

बहुतसी घटनाएँ जो अशुभ और विनाशकारी जान पड़ती हैं, वास्तवमें वैसी नहीं होतीं। जिन भूकम्पों और ज्वालामुखी-विभ्राटोंको हम बड़े भयंकर और विनाशक समझते हैं, उन्हींके द्वारा पृथ्वीके धरातलमें भविष्यके लिए अत्यंत शुभकारी और आवश्यक परिवर्तन होते हैं।

ब्रह्म-जिज्ञासुको समझ लेना चाहिए कि मृत्यु स्वयं कोई अशुभ घटना नहीं है। कभी-कभी तो पुरस्कार स्वरूप ही मृत्यु मिलती है। हमलोग जीवित बने रहनेको इतना बड़ा महत्व देते हैं कि मृत्युको सदैव अशुभ ही समझते हैं। यों तो जब शरीर मिला है, तो उसकी रक्षा करना कर्तव्य है; पर कभी-कभी जीवन-बलिदान एक अत्यंत शुभ वस्तु होती है। आत्म-रक्षाकी अंतर्वृत्ति अच्छी है और मानवजातिके लिए हितकारी है;

फिर भी मृत्युका विकास-क्रममें एक निश्चित स्थान है। कभी-कभी बड़ी भयंकर दुर्घटनाएँ हो जाती हैं और बहुसंख्यक नर-नारियों और बच्चोंके प्राण जाते हैं। कभी-कभी बड़ी यातनाके साथ, दबकर या जलकर लोग मरते हैं। हमें उनकी दशापर दुखी होना स्वाभाविक है, सहानुभूति होनी ही चाहिए; जो कुछ आवश्यक और संभव हो, वह सहायता भी करनी चाहिए, किंतु यह न भूलना चाहिए कि कभी-कभी इस प्रकार बहुत सा कर्म-भार हल्का हो जाता है। हमें व्यक्तिगत दृष्टिसे ऊपर उठकर विशाल दृष्टिसे घटनाओंको देखना चाहिए।

हमें अपने स्वभावसे विपरीत स्वभाववाले लोगोंको भी समझनेका प्रयास करना चाहिए। हमें संकीर्ण विचारवालोंसे भी सहानुभूति होनी चाहिए। जो मनुष्य संपूर्ण जीवनके प्रति विशाल दृष्टि रखना चाहता है, उसे प्रकृतिमें निम्नकोटिके जीवनसे भी एकात्म्यका अनुभव करना चाहिए। देवताओं और वनदेव तथा वनदेवियोंके प्रति भी सहानुभूति-पूर्ण भाव रखना चाहिए। आधुनिक सभ्यता इतनी संपत्ति-प्रधान और व्यापारोन्मुख है कि प्राकृतिक सौंदर्यके प्रति हमारी अवहेलना की दृष्टि हो गई है। हमें अपनेमें प्रकृति-प्रेम और सौंदर्य प्रेमको पुनः जागृत करना चाहिए। ऐसा करनेसे हमारा जीवन अधिक आनन्दमय हो जायगा।

कभी-कभी क्रोधादिसे उद्विग्न मनुष्योंको हम देखते हैं। उनके प्रति भी सहानुभूति होनी चाहिए। संसारमें, मनुष्य विकासके भिन्न-भिन्न सोपानोंपर है; जो एकके लिए हितकर है, वही दूसरेके लिए हानिकर हो सकता है। हमें निष्पक्ष भावसे सबकुछ देखते हुए, सभी अवस्थाओंको भगवानका प्रकट रूप जानते हुए, समझनेकी चेष्टा करनी चाहिए। तभी

हम समस्त व्यक्त जीवनसे एकात्म्य कर सकेंगे और उसके प्रति अपने कर्तव्यकी पूर्ति कर सकेंगे। सबकी सहायता कदाचित् हम न कर सकें किंतु जितना अवसर मिले उतना तो कर ही सकते हैं।

१०. मानव-हृदयका स्पर्श अपनी प्रज्ञासे करो।

> मनुष्योंके हृदयोंका अध्ययन करो, ताकि तुम जान सको कि वह जगत् कैसा है जिसमें तुम रहते हो और जिसके तुम एक अंश बन जाना चाहते हो।

यहाँ 'हृदय' शब्द प्रतीकात्मक अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। हमें केवल मनुष्यकी भावनाओंको ही नहीं, सारे स्वभावको देखना और समझना है। उसके विचारोंके क्रमको भी समझना है। गहराईसे हमें उसे समझना है ताकि हम उसके जीवात्माके व्यक्त रूपको ठीक-ठीक जान सकें। बहुतसे लोगोंके ढंगको, उनके कामोंको, उनकी रुचिको हम समझ नहीं पाते। हम कह बैठते हैं, 'वह ऐसा क्यों करता है? हम तो कभी ऐसा न करते।' लोग दंगल और कुश्ती देखते हैं, भेंड़ों और तीतरोंकी लड़ाई देखते हैं, गंदे गीत गाते हैं, डाह और द्वेष करते हैं। हम शायद यह सब पसंद नहीं करते; हमें, यह सब व्यर्थ और अप्रिय तथा अशोभन लगता है। फिर इन सब मनुष्योंको समझनेका प्रयास क्यों किया जाय? उनको सहायता देनेके कर्तव्यकी पूर्तिके लिए। किंतु जिसे समझ ही नहीं पाते, उसकी सहायता क्या करेंगे? इसलिए उनको समझना कर्तव्य है।

किशोरावस्था और बाल्यावस्थाके लड़के-लड़कियोंके व्यवहार

और उनके उद्देश्यको हम अक्सर समझ नहीं पाते। परंतु बिना समझे उनकी हम सहायता क्या करेंगे? अध्यापकों, अभिभावकों को बालकों और बालिकाओं, किशोर तथा किशोरियोंको सहानुभूतिके साथ समझनेका प्रयत्न करना चाहिए। बिना अपनेको दूसरेकी स्थितिमें रखे हुए, हम न दूसरेको समझ सकते हैं और न उसकी सहायता कर सकते हैं। लोगोंकी हठधर्मी अच्छी वस्तु नहीं है, पर होती बहुतोंमें हैं। बिना उसे समझे उसे दूर नहीं कराया जा सकता। यह हठ-धर्मी आयी कैसे? यदि यह समझमें आ जाय, तो उसे दूर करनेमें सहायता दी जा सकती है। दूसरेको समझनेके लिए पहिले अपनी हठधर्मी, अपना पक्षपातका भाव दूर करना होता है।

महात्मा हिलेरिअनकी टिप्पणी पर अब विचार करें।

> **टिप्पणी**—परन्तु यह सम्मान और स्पर्श सर्वथा निष्पक्ष हो, अन्यथा तुम्हारी दृष्टि शुद्ध न होकर पक्षपात-पूर्ण होगी। इसलिए निष्पक्षताको पहिले समझ लेना चाहिए।

केवल न्याय-बुद्धि रखना, केवल समताका भाव बनाये रहना पर्याप्त नहीं है। गुरुदेव यहाँ उस निष्पक्षताकी बात कह रहे हैं जो देहात्म-भावसे परे, उससे अतीत हो जानेपर आती है, जब हमारी दृष्टि आत्माकी दृष्टि हो जाती है। यह सरल नहीं है। पूर्णरूपसे यह भाव लानेके लिए हमारा कारण-शरीर पूर्णतया विकसित होना चाहिए। अधिकांश मानवजाति अभी मनोमय शरीर ही विकसित कर रही है। गुप्त विद्याके अध्येता और साधक इससे कुछ अधिक प्रयास कर रहे हैं; पर सफल-प्रयास लोगोंकी संख्या बहुत कम है। आरंभमें

हमें बुद्धिकी सहायतासे यह समझनेकी चेष्टा करनी होगी कि आत्माकी दृष्टि क्या होगी।

पूर्णतया निष्पक्ष हो सकना कठिन है। जिसे हम जानते हैं, जो हमारा मित्र है उसका दृष्टिकोण हमें अधिक सरलतासे समझमें आता है, उसके प्रतिद्वन्द्वीका उतनी सरलतासे नहीं। हम सभी बातों पर इसी दृष्टिसे विचार करते हैं कि आखिर इसका असर हमारे ऊपर क्या होगा। हममेंसे अधिकांश लोग इससे अधिक विशाल दृष्टिसे किसी वस्तुको देखही नहीं सकते। जानबूझकर हम लोक-कल्याणकी अवहेलना करके स्वार्थका चिंतन नहीं करते; हमें तो अधिक विशाल दृष्टिकी संभावनाका भान ही नहीं होता।

आत्माका विकास तीन प्रकारसे किया जा सकता है। एक मार्ग है दार्शनिकों और वैज्ञानिकोंका, जिन्होंने निम्न मनके अतिरिक्त अपने उच्च मनको भी पर्याप्त रीतिसे विकसित कर लिया है। जो इस पथसे अपना विकास करना चाहते हैं, उन्हें वैज्ञानिकों और दार्शनिकोंका जीवन भी व्यतीत करना होगा। बुद्धिलोकीय चेतना तो वहुत आगे चलकर जागृत होगी। दूसरा मार्ग है प्रेम, भक्ति, करुणा आदि उच्च संवेगोंके द्वारा बुद्धिलोकीय चेतनाको जगाने का। इस प्रयत्नमें कारण-शरीरको प्रत्यक्ष रीतिसे विकसित करनेका प्रयत्न तो नहीं किया जाता; किंतु बुद्धिलोकीय चेतनाके विकासका प्रभाव कारण-शरीर पर अपने-आप पड़ता ही है। हमारे थिओसॉफिकल सोसायटीसे संबद्ध साधक अधिकांश इन्हीं प्रेम, भक्ति आदिके द्वारा बुद्धिलोकीय चेतनाको जगानेका प्रयत्न करते हैं। वे अपने बुद्धिलोकीय शरीरको पूर्णतया विकसित तो नहीं कर पाते, परंतु उसमें कम्पन अवश्य उठने लगते हैं और वासना-शरीरको ये कम्पन प्रभावित

करके शुद्ध कर देते हैं। एक तीसरा मार्ग और भी है जो तनिक कठिन और अज्ञात-सा है। जिस प्रकार वासनाशरीरकी प्रतिक्रिया बुद्धिलोकीय शरीरमें होती है, निम्न मनकी उच्च मन पर, उसी प्रकार किसी गूढ़ रीतिसे स्थूलशरीरकी प्रतिक्रिया निर्वाणलोकीय शरीर पर होती है। कैसे यह क्रिया होती है, यह तो, लेडबीटर साहब लिखते हैं, 'मैं स्वयं भी बहुत कम जानता हूँ, किंतु अधिकांश साधक, गुरुदेवके प्रति श्रद्धा तथा मानवमात्रके प्रति सहानुभूतिके द्वारा, इसका अभ्यास करते हैं।' टिप्पणी आगे चलती है :—

> बुद्धि निष्पक्ष होती है; न कोई तुम्हारा शत्रु है और न कोई मित्र। सभी समान रूपसे तुम्हारे शिक्षक हैं। तुम्हारा शत्रु एक रहस्य बन जाता है, जिसे तुम्हें हल करना है, चाहे इस हल करनेमें युगोंका समय लग जाय; क्योंकि मानवको समझना तो है ही।

मित्रोंके संबंधमें भी निष्पक्ष दृष्टिसे यह सोचना होगा कि जीवकी दृष्टिसे, हमलोग मित्र क्यों हुए? हमारे एक दूसरेसे संपर्कमें आनेका क्या उद्देश्य है? या तो मित्रोंके गुणमें समानता होगी या उनके गुण एक दूसरेके पूरक होंगे। उनका अध्ययन करके आध्यात्मिक प्रगतिमें वृद्धि करनी चाहिए। इसी प्रकार यह भी निस्पृह दृष्टिसे सोचना चाहिए कि कोई भी हमारा शत्रु नहीं है। यदि कोई अज्ञानवश शत्रुता प्रकट करता है, तो हमें देखना है कि वह ऐसा क्यों कर रहा है? मैंने अवश्य पूर्वजन्ममें कुछ ऐसा व्यवहार किया होगा जिसके परिणाम-स्वरूप वह ऐसा कर रहा है। 'क्या कारणका पता चल सकता है? क्या उसकी

मति बदली जा सकती है ?' इस प्रकार तथाकथित शत्रु-मित्र, दोनोंहीसे शिक्षा लेनी चाहिए और मानव-हृदयके रहस्यको समझना चाहिए।

> तुम्हारा मित्र तुम्हारा ही एक अंग बन जाता है, तुम्हारा ही विस्तृत रूप हो जाता है और इसीलिए एक ऐसी पहेली बन जाता है जिसे समझना कठिन होता है। समझनेमें उससे और अधिक कठिन केवल एकही वस्तु है, स्वयं तुम्हारा अपना हृदय। जबतक देहात्माके बंधन ढीले नहीं होते, तबतक आत्माका वह गहन रहस्य समझा नहीं जा सकता।

कभी कभी हम यह अनुभव करते हैं कि जिस मित्रको हम सालोंसे जानते आये हैं, उसकी चेतनाके भी कुछ स्तर ऐसे होते हैं जिनका सम्पर्क करके हम आश्चर्यान्वित हो जाते हैं। हमें उस पहलूका पता ही न था। यह सत्य ही है कि कोई किसीको पूरी तौरसे जान नहीं पाता। परंतु सिद्ध-पुरुष, गुरुदेव जानते हैं; वे तो हमारे संबंधमें स्वयं हमसे भी अधिक जानते हैं। अपने जो दोष और गुण हम स्वयं नहीं जानते, गुरुदेव उन्हें भी जानते हैं। यह जानकर संतोष होता है और सांत्वना मिलती है कि हमारे छिपे दुर्गुण भी गुरुदेवको ज्ञात हैं और एक दिन वे उन्हें प्रकाशमें लाकर हमें उन्हें दूर करनेमें सहायता देंगे। जिन्हें वे अपने संपर्कमें शिष्यके रूपमें लाते हैं, उन्हें इतना आश्वासन तो मिलता ही है कि शिष्य सर्वथा बुरा तो नहीं हो सकता; इस योग्य तो है ही कि गुरुदेव उसे समीप आने दें।

अपने परिष्कार और आत्मसंस्कारका कार्य तो हमें स्वयं

करना होगा। गुरुदेव तो वह कार्य कर नहीं सकते, किंतु फिर भी उनका सान्निध्य तथा उनके अन्य शिष्योंका सत्संग हमें लाभ पहुँचाता है। पर जब हम अपने प्रयाससे उनकी सहायता प्राप्त करनेके अधिकारी हो जायँगे, तभी उनकी सहायता हमें मिलेगी। गुरुदेव भी नियमसे बद्ध हैं; वे हमारे मित्र हैं, हित चिंतक हैं, पर वे हमें दे उतनाही सकते हैं जितनेके हम अधिकारी हैं। जबतक हम उनसे एकात्म्य प्राप्त नहीं कर लेते, जब तक हमारे देहात्माके अहंकारके बंधन खुल नही जाते, तब तक हम पूर्ण रीतिसे उनकी सहायता पा नहीं सकते।

> जबतक तुम उससे अलग एक ओर खड़े नहीं होते, तबतक वह अपनेको तुमपर प्रकट न करेगा। तभी तुम उसे समझ सकोगे और उसका पथ-प्रदर्शन कर सकोगे; उससे पहिले नहीं। तभी तुम उसकी समस्त शक्तियोंका पूर्ण उपयोग कर सकोगे और उन्हें किसी योग्य सेवामें लगा सकोगे; उससे पहिले नहीं।

गुरुदेव यहाँ कारणशरीर-स्थित जीवात्मासे कह रहे हैं, कि वही निम्नात्माको वशमें लाकर उसका पथ-प्रदर्शन करेगा। जैसा पहिले कह आये हैं, इन सभी वाक्योंका आशय भिन्न भिन्न अवस्थामें भिन्न भिन्न स्तर पर होगा। शिष्यके लिए अर्थ दूसरा है और स्वयं सिद्ध पुरुषके लिए दूसरा। किसीके लिए तो जीव कारण-शरीरसे अपने नीचेवाले देहात्माको वशमें करके उसका पथ-निर्देश करेगा; और किसीके लिए विशुद्धात्मा जीवात्माको वशमें करके उसका पथ-प्रदर्शन करेगा। जब यह भी हो चुकेगा अर्थात् सिद्धावस्था प्राप्त हो चुकेगी, तब भी किसी ऊँची स्थितिसे विशुद्धात्मा पर शासन होगा।

११. अपने अन्तरात्माका पूर्णरूपसे सम्मान करो।

१२ क्योंकि तुम्हारे ही हृदयके द्वारा वह प्रकाश प्राप्त होता है, जो जीवनको आलोकित कर सकता है और उसे तुम्हारी आँखोंके समक्ष स्पष्ट कर सकता है।

यदि अपने भीतर स्थित ईश्वरका अनुभव हमें नहीं होता, तो हम बाहर ईश्वरको प्राप्त न कर सकेंगे। हमारे हृदयसे ही वह ज्योति निकलती है, जो जीवनको आलोकित कर सकती है। उस ज्योतिके प्रकटीकरणमें बाहरसे सहायता अवश्य मिल सकती है, गुरुदेव उसे हमारे भीतर जागृत करनेमें सहायता दे सकते हैं; किंतु वे हमें वह ज्योति दे नहीं सकते। वह ज्योति हमारे भीतर है और वहींसे उसे प्रकाशित होना है।

यह बड़े आश्वासनकी बात है और हमारे लिए एक प्रकारका वरदान है कि हमारे भीतर ही ईश्वर स्थित है और हम भी उसीके अंश हैं। बार बार हम इस तथ्यको भूल जाते हैं।

ईश्वर अंश जीव-अविनाशी। चेतन अमल सहज सुखराशी।

—तुलसी

अज्ञानके वश हम संकीर्ण दृष्टिसे वस्तुओंको देखते हैं किंतु ईश्वरकी विशाल दृष्टिसे उसके विधानकी गहनताको समझनेकी चेष्टा नहीं करते। हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि जितनाही अधिक सान्निध्य हम ईश्वरसे प्राप्त करेंगे उतनीही अधिक हमारी वास्तविक प्रगति होगी और उतनी ही अधिक अनुभूति हमें सत्य और आनंदकी होगी और तभी शेष सृष्टिसे हमारा सम्यक

संबंध स्थापित होगा। सभी साधकों और ज्ञानियोंने अपने अंतःस्थित ईश्वरके द्वारा ही बाह्य जगत्में ईश्वरके साक्षात्कारकी संभावनाकी चर्चा की है। गुरुदेवने भी एक स्थानपर कहा है 'यदि तुम उसे अपने अंदर नहीं देख पाते, तो फिर बाहर उसकी तलाश व्यर्थ है।'

अध्याय ५

सूत्र १३

इस दूसरे भागमें इस स्थानपर सूत्रों तथा उनकी व्याख्याका पूर्व क्रम नहीं चलता। तीन सूत्र और फिर चौहानकी व्याख्या—ऐसा क्रम नहीं है। यह सूत्र १३ भी प्राचीन सूत्र न होकर चौहानका ही लेख है।

> १३. ज्ञानकी प्राप्तिके साथ वाणीकी भी प्राप्ति होती है। ज्ञानको प्राप्त कर लो और तुमको वाणीकी भी प्राप्ति हो जायगी।

इसपर महात्मा हिलेरिअनकी टिप्पणी चलती है:

> **टिप्पणी**—जब तक तुम्हें स्वयं कुछ निश्चय नहीं हो जाता, तुम्हारे लिए दूसरेकी सहायता करना असम्भव है।

अपने भाष्यमें श्री लेडबीटर साहबने लिखा है कि जब वे ईसाई धर्मके पादरी थे और थिऑसोफीके संपर्कमें नहीं आये थे, तब वे ईसाई चर्चकी बहुतसी मान्यताओंमें आस्था न रखते थे। जब थिऑसोफीका अध्ययन उन्होंने किया, तो यह विचार-धारा उन्हें युक्ति-युक्त लगी। फिर जब मैडम ब्लैवेट्स्कीसे

भेंट हुई, तब उन्हें थिऑसोफीकी कल्पनाओं और मान्यताओंके औरभी प्रमाण मिले। सोसायटीमें सम्मिलित होनेके तीन वर्षके भीतर ही स्वयं अपने अनुभवसे महात्माओं और सिद्ध पुरुषोंके अस्तित्वका उन्हें ज्ञान हो गया। फिर तो स्वयं अपनी शोधके ही द्वारा उन्हें अनुभव हो गया कि जो कुछ मैडम ब्लैवेट्स्की कहती थीं, सत्य है।

यह बिल्कुल सत्य है कि जब मनुष्य स्वयं किसी बातको निश्चितरूपसे जान लेता है, तभी वह दूसरेकी सहायता कर सकता है। जो स्वयं जानता है उसके शब्दोंमें एक प्रकारका बल होता है, जिससे दूसरोंको विश्वास होने लगता है। स्वयं मिसेज़ बेसण्टके भी संबंधमें यह तथ्य लागू होता है। 'द सीक्रेट डॉक्ट्रिन' (गुप्तज्ञान संहिता) के अध्ययनके आधारपर उन्होंने 'मनुष्यके सात तत्त्व' 'पुनर्जन्म' और 'मृत्यु तथा उसके बाद' पुस्तकें लिखी हैं; बड़ी अच्छी युक्ति-युक्त पुस्तकें हैं वे। किंतु स्वानुभवके आधारपर आगे चलकर 'कर्म' तथा 'मनुष्य और उसके शरीर' ये जो दो पुस्तकें उन्होंने लिखीं, उनकी बात ही कुछ और है। उनकी शैलीसे स्पष्ट है कि वे अपनी जानी-बूझी अनुभवकी बातें लिख रही हैं।

ज्यों-ज्यों मनुष्यका चिंतन और अनुभव बढ़ता जाता है, उसे पहिले पढ़े ग्रंथोंमें भी नये-नये अर्थ सूझने लगते हैं। दीक्षाके समय भी यही होता है। मनुष्य जब ज्ञानकी कोई नयी कुंजी पाता है, तो उसे आश्चर्य होता है कि जानते हुए भी इसे वह पहिले क्यों समझ न पाया। दीक्षक गुरुदेवके शब्दोंमें अज्ञान-तिमिरको दूर करनेकी कुछ शक्ति ही ऐसी होती है कि सभी कुछ स्पष्ट हो जाता है। सच्चा ज्ञानी ही किसीकी

सच्ची सहायता कर सकता है। दीक्षाके समयही मनुष्यका रहासहा गर्व चूर्ण होता है।

गुरुदेवका ज्ञान सर्वज्ञताके समीप है। वे ही किसीकी सच्ची सहायता कर सकते हैं। अर्हत पदकी प्राप्तिके साथ अविद्याका विनाश होता है और यह अविद्या पूर्ण सौरमंडल संबंधी अज्ञान है। अर्थात् अर्हत्‌को समूचे सौरमंडलका ज्ञान प्राप्त हो जाता है। सभी चेतनाओंसे एकात्म्य करके अर्हत् सब कुछ जान सकता है।

टिप्पणी आगे चलती है :

> जब तुमको आरम्भके इक्कीस नियमोंका ज्ञान हो चुकेगा और तुम अपनी शक्तियोंको विकसित और अपनी इन्द्रियोंको उन्मुक्त करके ज्ञानमन्दिरमें प्रविष्ट हो जाओगे, तब तुम्हें ज्ञात होगा कि तुम्हारे भीतर एक स्रोत है, जहाँसे वाणी मुखरित होगी।

आरंभमें ज्ञान-मंदिरसे भुवर्लोकका आशय है। आगे चलकर कदाचित गुरुदेवका आशय किसी अन्य ऊँचे लोकसे है। भुवर्लोकमें भी साधक बहुत कुछ सीख सकता है। उसकी नयी शक्तियाँ जागृत हो जाती हैं और अनुभवका नया क्षेत्र उसे प्राप्त होता है। जड़ पदार्थ पारदर्शी हो जाता है। स्थूल देहके बदले अब साधक अपने भावना-देहके द्वारा वस्तुओंका निरीक्षण और बोध करता है। इस लोकमें भी लोगोंको सहायताकी आवश्यकता रहती है। नये मृत लोगोंका स्वागत और पथ-प्रदर्शन करना रहता है। इस सबको सीखकर साधक उपयोगी बन सकता है।

आगेकी एक और स्थिति आती है जब मनुष्य मनोमय लोकमें भी विचरण कर सकता है। महात्माओंके शिष्य लोगोंको मनोमय शरीरको विकसित करनेकी विशेष रूपसे शिक्षा दी जाती है; फिर मायावी रूप धारण करनेकी क्रिया सिखाई जाती है। यह थोड़े समयके लिए बनाया हुआ एक वासना-शरीर होता है। यह मायावी रूप वेही बना सकते हैं जो मनोमय शरीरमें इधर उधर आ जा सकते हैं।

इसके बाद कारण-शरीरका उपयोग करना सीखनेकी स्थिति आती है ; तब चाहे जिस निचले शरीरमें मनुष्य जीवनयापन कर रहा हो, उसकी कारण-शरीरकी चेतना बनी रहती है। यदि वासना-शरीर और स्थूल शरीरके बीचका पर्दा दूर हो गया हो, तो स्थूलशरीरकी जाग्रतावस्थामें भी उच्च लोकके समस्त अनुभवोंकी स्मृति बनी रहती है।

भक्तिभावसे पूर्ण लोग कभी-कभी अपनी मग्नावस्थामें इन ऊँचे लोकोंका संपर्क प्राप्त कर लेते हैं। इन अनुभवोंका वर्णन ईसाई संतों और हिंदू योगियों और भक्तोंके वचनोंमें पाया जाता है। जिसे स्वयं इन उच्च लोकोंका अनुभव है, वह इन वचनोंकी सत्यताको जान सकता है। यों तो ये अनुभवकी बातें अत्यंत गुह्य और पवित्र होती हैं और जिस-तिसके समक्ष मनुष्य उनकी चर्चा करना पसंद नहीं करता, फिर भी जिन्हें प्रत्यक्ष अनुभव है उन्हें दूसरोंको इस बारेमें बतानेमें अधिक आना-कानी न करना चाहिए। इन महान् तथ्योंकी साक्षी देनेके लिए साधकको सदा प्रस्तुत रहना चाहिए। पर साथही इस बातका ध्यान रखना चाहिए कि इस वर्णनसे अविश्वासी लोग इन उच्च वस्तुओंका ठठ्ठा न करने लगें। सिद्ध महात्माओंकी हँसी उड़ानेसे उनका तो कुछ बनता-बिगड़ता नहीं, पर हँसी उड़ानेवालेके लिए

बड़े अशुभ कर्मका संचय होता है। अविश्वासियोंको इस महापातकका अपराधी न बनानेकी चिंता ही अनुभवी साधकों और शिष्योंको अपने अनुभवके संबंधमें मूक बने रहनेको बहुधा बाध्य करती है।

हम सबको किसी भी वस्तुका तिरस्कार या अपमान करनेमें सावधान रहना चाहिए। ऐसा न हो कि हम पातकके भागी बनें।

तेरहवें नियमके बाद, जो कुछ लिखा जा चुका है, उसमें हम और कुछ बढ़ा नहीं सकते।

महात्मा हिलेरिअनका आशय यही है कि जो कुछ चौहान विनीशिअनने लिख दिया है, उससे अधिक और कुछ बताने योग्य नहीं है। कदाचित् और कुछ कहना ठीक न होगा। फिर वे अपनी टिप्पणीको यों समाप्त करते हैं।

अपनी शान्ति मैं तुम्हें देता हूँ।

△

ये टिप्पणियाँ केवल उनके लिए लिखी गयीं हैं, जिनको मैं अपनी शान्ति देता हूँ और जो लोग जो कुछ मैंने लिखा है, उसे बाह्य अर्थके अतिरिक्त उसके भीतरी अर्थके साथ भी समझ सकते हैं।

यह शांतिका आशीर्वाद गुरुदेव अपने शिष्योंकोही देते हैं, जो उन्हींके समान हो गये हैं या उन लोगोंको, जिनकी बुद्धि-लोकीय चेतना जग गई है। इस आशीर्वादके द्वारा कुछ बुद्धि-लोकीय प्रकृति आशीर्वादकसे, आशीर्वादितको मिलती

है। इसे कल्पना द्वारा अनुभव करनेका प्रयास करना चाहिए। सच्चे हृदयसे दिया हुआ आशीर्वाद सचमुच कुछ देता है। हम इतने जड़वादी हो गये हैं कि हमें इन शक्तियोंके अस्तित्वमें विश्वास ही नहीं रहा है और हम आशीर्वाद को केवल मौखिक क्रिया समझते हैं। जिसे स्थूल आँखोंसे देख नहीं सकते उसका अस्तित्वही नहीं स्वीकार करते। यह आशीर्वाद जलके या विद्युत्के प्रवाहके समान ही वास्तविक है और हमको सचमुच ईश्वरके समीप ले जाता है।

अध्याय ६

सूत्र १४ से २१ तक

यह १४ वाँ सूत्र भी चौहानकी व्याख्या ही है। इस व्याख्याका संबंध पूर्वकथित सूत्रोंसे नहीं है, बल्कि यह एक प्रकारसे आगेके १५, १६, और १७ मूल सूत्रोंकी भूमिका है।

> १४ आंतरिक इन्द्रियोंको उपयोगमें लानेकी शक्ति प्राप्त करके, बाह्य-इन्द्रियोंकी वासनाओंको जीतकर, जीवात्माकी इच्छाओं पर विजय पाकर और ज्ञान प्राप्त करके, हे शिष्य, वास्तवमें मार्गमें प्रविष्ट होने को तैयार हो जाओ। मार्ग मिल गया है; उस पर चलनेके लिए अपनेको तैयार करो।

पुस्तकका आधेसे अधिक अध्ययन समाप्त हो चुका है; अब यह कहना कि हम अब वास्तवमें मार्गमें प्रविष्ट हो रहे हैं, तनिक आश्चर्यजनक जान पड़ता है। आशय मार्गके ऊँचे स्तरमें प्रविष्ट होनेसे है। जैसे पहिले हम परीक्ष्यमाण-पथकी चर्चा करते हैं, फिर शिष्य-पथकी बात कहते हैं जो प्रथम दीक्षा लेने पर आरंभ होता है, वैसेही यहाँ चौहान 'वास्तवमें' पथमें प्रविष्ट होनेकी बात कह रहे हैं। एकही विचार भिन्न-भिन्न स्तरों पर

लागू होता है। अर्हत्-पद-प्राप्त साधक निर्वाण-लोकके नये पथ पर प्रविष्ट होता है, और 'अशेख' अथवा सिद्ध-पुरुष भी और आगे 'अधिक वास्तविक' पथ पर आरूढ़ होता है।

इस पथका अंत तो होता जानही नहीं पड़ता। निश्चित् रूपसे यह कहा नहीं जा सकता कि यह अंतिम स्थिति है। यह सीढ़ी तो ऊँचे चलकर अत्यंत गौरवपूर्ण तेजमें विलीन-सी होती जान पड़ती है। इतना हम जानते हैं कि हमारे समक्ष करोड़ों वर्षोंका विकास-पथ पड़ा हुआ है। सौरमंडलके ईश्वर (सोलर लोगॉस) की चेतना हम प्राप्त करेंगे, यह तो ज्ञात है, पर इसके आगे और क्या होगा, हम कह नहीं सकते। हमारी वर्तमान अवस्थामें वह सब हमारी कल्पनाके परे है।

जब चौहान जीवात्माकी इच्छाओंको जीत लेनेकी बात कहते हैं, तो वहाँ उनका तात्पर्य उन इच्छाओंसे है जिनका संबंध हमारी लौकिक वासनाओंसे नहीं है। साधनपथकी एक उच्च अवस्थामें दो बंधन 'रूपराग' और 'अरूपराग' काटने होते हैं। 'रूपराग' शरीरधारी जीवनकी आकांक्षाको कहते हैं और 'अरूपराग' निःशरीर जीवनकी आकांक्षाको। जीवात्माकी चेतनामें दो प्रकारके जीवनका ज्ञान होता है, एक तो कारण-शरीरमें स्थित जीवन और दूसरा बुद्धिलोकीय जीवन। इन स्थितियोंका जीवन अत्यंत उच्च और गौरव-पूर्ण होता है। एकमें तो अनेक मेधावी जीवात्माओं देवराजों और गुरुदेवोंका सहवास प्राप्त होता है और दूसरेमें उनके साथ एकताका अनिर्वचनीय आनंद भी। इन सबकी आकांक्षा या इच्छाका परित्याग, यह है जीवात्माकी इच्छाओंको जीत लेना। जीव जहाँ भेजा जाय, जानेको प्रस्तुत है, किंतु उसकी अपनी इच्छा न 'रूपरागीय' है, न 'अरूपरागीय'। स्थूल-शरीर धारण करना कारण-शरीरके या बुद्धिलोकीय जीवनके

समक्ष एक अत्यंत सीमित और अंधकारपूर्ण अवस्थाको लौट आना है। इसलिए उच्चलोकीय जीवनकी आकांक्षाका त्याग भी एक बड़ी भारी जीत है।

यह अनुभवकी बात है कि जिन लोगोंने समाधिस्थ होकर निर्वाण लोकके आनंदकी अनुभूति प्राप्त कर ली है, वे जब साधारण अवस्थामें लौटते हैं तो बड़ी उदासीका अनुभव करते हैं। किंतु जो गुरुदेवके शिष्य हैं, उन्हें इस बातकी शिक्षा दी जाती है, और उनसे अपेक्षा भी यही की जाती है, कि वे इहलोकीय परिस्थितिमें लौटने पर उदास या खिन्न न हों। उनको तो इन सब इच्छाओंसे मुक्त हो जाना चाहिए। परंतु यह अवस्था सरल नहीं है। अर्हत् ही इन 'रूपराग' और 'अरूप-राग' के बंधनोंसे मुक्त होता है। हम-आप तो इस उच्च प्रलोभनकी कल्पना भी नहीं कर सकते।

१५. भौतिक जगत्में छिपे हुए जीवन-रहस्यको प्राप्त करो।

तुम अपनी आंतरिक इन्द्रियोंके विकासके कारण यह कार्य कर सकोगे।

इस सूत्रका अंग्रेजी मूल पाठ अक्षरशः हिंदीमें यों होगा : 'पृथ्वी, जल और वायुमें जो रहस्य तुम्हारे लिए छिपे हुए हैं, उन्हें प्राप्त करो।' इसी १५वें सूत्रका उपर्युक्त अनुवाद श्री रोहित मेहताजी ने किया है। पहिला वाक्य जो कालेमें छपा है मूल सूत्र है और दूसरा वाक्य चौहानकी व्याख्या है। प्रकृतिसे अधिकाधिक संपर्क प्राप्त करनेकी बात यहाँ कही जा रही है। सभी धर्मोंमें, यहाँ तक कि बर्बर जातिकी विधियोंमें भी, सृष्टिके निर्माणके संबंधमें, कल्पनाएँ मिलती है। सभी धर्मोंमें प्रकृतिको

समझनेकी चेष्टा की गई है। जितना ही अधिक हम प्रकृतिको समझ पायेंगे उतना ही हम प्रकृतिके अनुकूल सहयोग-पूर्ण जीवन व्यतीत कर सकेंगे। प्रकृतिके जीवनके संबंधमें हमारी धारणा ऐसी हो गई है कि सारी सृष्टि केवल मनुष्यके उपयोग और लाभके लिए ही है। यह भ्रम है; समस्त प्रकृतिमें, पृथ्वी, जल और वायुमें, जीवनके विकासका कार्य चल रहा है। मानव जितना महत्वपूर्ण अपनेको समझता है, उतना वह है नहीं। अनेक विकास कोटियाँ हैं; देव जगत्में भी विकास हो रहा है; वह जगत् मानव-जगत्से कम महत्वका नहीं है। औरभी विकासक्रम हैं, जिनमेंका जीवन अन्य मालाओंमें विकसित होकर अब इस पृथ्वी पर केवल उच्चलोकीय विकासका कार्य कर रहा है। समस्त आकाश विकासशील जीवनसे ओत-प्रोत है। पृथ्वीका तीन-चौथाई अंश जलमग्न है; मनुष्य वहाँ नहीं रहते, पर जीवन वहाँ भी है। ठोस स्थूल पृथ्वी भी जीवनमय है; जैसे हम वायुमें बिना अवरोधका अनुभव किये भ्रमण करते हैं, वैसेही वह जीवन ठोस पृथ्वीमें भी अवरोधका बोध नहीं करता। यह जीवन मानव-जीवनसे नीची कोटिका है, किंतु किन्हीं-किन्हीं बातोंमें मानव-जीवनसे अधिक चतुर भी है। किंतु है निम्न श्रेणीका; जो उसके विकासके लिए उपयोगी है वह हमारे लिए पतनका कारण भी हो सकता है।

वहाँका जीवन, हम जिस जीवनसे परिचित हैं उससे सर्वथा भिन्न है जिसे हम सहजही समझ भी न पायेंगे। उनमें हमारे नीति-अनीतिके भेदकी भावनाही नहीं है। फिर भी हमें वह सब जान लेना है क्योंकि वह भी ईश्वरीय जीवन है।

१६. आधिभौतिक जगत्में छिपे हुए जीवन-रहस्यको प्राप्त करो।

इसकी व्याख्या इस प्रकार है :

बाह्येन्द्रियोंकी वासनाओंको जीत लेनेसे तुम्हें यह रहस्य जाननेका अधिकार प्राप्त हो जायगा ।

इस मूलसूत्रका भी अक्षरशः अनुवाद यों होता : 'पृथ्वी परके पवित्रात्माओंके पास जो रहस्य तुम्हारे लिए हैं, उन्हें उनसे पूछो ।' पवित्रात्माओंसे तात्पर्य देवोंसे और सिद्ध पुरुषोंसे है । ये आधिभौतिक जगत्के निवासी हैं। उनसे संपर्क प्राप्त करके ही हम बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त कर सके हैं और अभी और अधिक ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। हमें इस बौद्धिक ज्ञानको अनुभवजन्य बनाना होगा। इसी स्वानुभवके द्वारा थिऑसोफीके अभ्यासकोंने पहिलेसे अधिक ज्ञान प्राप्त करके, उसे अपनी बादकी पुस्तकोंमें प्रकट किया है ।

सिद्ध पुरुषोंसे, गुरुदेवसे प्रश्न पूछ कर ही ज्ञान प्राप्त नहीं किया जाता। कभी कभी प्रश्न भी पूछे जाते हैं; परन्तु अधिकतर अपनी चेतनाको उनकी चेतनासे एकात्म करके ही ज्ञान प्राप्त किया जाता है। इस प्रकार पग-पग पर उनसे सहायता ली जा सकती है और अपना कार्य उनके अनुकूल बनाया जा सकता है। कुछ शिष्योंको तो रात्रिमें प्रायः रोज गुरुदेवके आश्रममें जाकर उनके आदेश प्राप्त करने होते हैं, परंतु ये पुराने शिष्य गुरुदेवके कार्यमें विघ्न नहीं डालते, जहाँ तक संभव हो बिना उनका स्पष्ट ध्यान अपनी ओर खींचे हुए आदेश समझ कर काम निकाल लेते हैं ।

१७. अपने हृदयमें स्थित परमतत्वके पास अनादि कालसे छिपे हुए जीवन-रहस्यको प्राप्त करो ।

हमारे देहात्माकी दृष्टिसे यह परमतत्त्व जीवात्मा है और जीवात्माके लिए विशुद्धात्मा ही परमतत्त्व है। लेडबीटर साहब लिखते हैं कि विशुद्धात्माके लिए परमतत्त्व क्या है, सो वे नहीं कह सकते। विशुद्धात्मा दैवी अग्निका स्फुलिंग कहा जाता है, उसकी एक चिनगारी। यह विशुद्धात्मा आरंभमें क्या क्या जानता है, हम अभी कह नहीं सकते। ईश्वर, जिसका वह स्फुलिंग है, सब कुछ जानता है।

इस १७ वें सूत्र पर चौहानकी व्याख्या यों चलती है :—

> जीवात्माकी वासनाओंको जीत लेनेका बड़ा और कठिन कार्य युगोंका है; इसलिए उसके पुरस्कारके पानेकी आशा तबतक न करो जबतक युगोंके अनुभव एकत्रित न हो जायँ। जब इस सत्रहवें नियमको सीखनेका समय आता है, तब मानव मानवंतर (अतिमानव) अवस्थाकी ड्योढ़ीपर पहुँच जाता है।

वैसे तो यह बहुत बढ़ाकर कही हुई बात जान पड़ती है, पर इसके लिखनेवाले सिद्ध पुरुष अपनी जानी हुई बात कह रहे हैं। इन सभी बातोंको दो स्तरों पर समझना है। देहात्मा की वासनाओंको दूर हटा कर, जीवात्माकी भी इच्छाओंको दूर करके विशुद्धात्मासे एकात्म्य प्राप्त करना तनिक कठिन वस्तु है और सचमुच इस कार्यमें युगोंका समय लग जाता है। परंतु यदि एक स्तरपर मनुष्य सफल हो जाता है, तो फिर दूसरे ऊँचे स्तरपर भी वह यह कार्य कर सकता है। जो जीव सामान्य पथ पर

विकास कर रहे हैं उन्हें तो युग लगेंगे ही, किंतु शिष्य-साधकके लिए यह कार्य कुछही जन्मोंके भीतर पूरा किया जा सकता है।

ऋषि-संघका विधान सदैव पर्याप्त समय देनेकी दृष्टिसे बनता है। असफलताको तो स्थान ही नहीं रहता। यदि आरंभमें कार्यकी पूर्ति बहुत धीरे धीरे होती जान पड़ती है, तो आगे चल कर उसकी गति बढ़ जाती है और निश्चित समयमें कार्य पूर्ण अवश्य हो जाता है।

जिन व्यक्तियों या राष्ट्रोंको किसी कार्य करनेका भार दिया जाता है, कभी कभी वे उस अवसरसे लाभ नहीं उठा पाते। सदैव एक और व्यक्ति या राष्ट्र उनका स्थान लेनेके लिए तय्यार किया रहता है। यदि पहिला व्यक्ति या राष्ट्र कार्यको नहीं करता, तो दूसरा क्षेत्रमें आ जाता है और नियत कार्य पूरा होकर रहता है।

थिओसॉफिकल सोसायटी और उसके प्रत्येक सदस्यकी भी प्रायः यही स्थिति है। आर्य जातिकी छठी उपजाति (शाखा) के निर्माणके संबंधमें हम सबकी परीक्षा हो रही है। किसी पर जोर-जबर्दस्ती नहीं है; समय पा कर विकास तो सभीका होगा ही और जो जितना समय चाहे लगा सकता है। हमारे लिए सबसे अच्छी बात तो यह है कि हम शक्ति भर प्रयत्न करें; न ढिलाई डालें और न इतना करनेका प्रयास ही करें जो हमारी शक्तिसे बाहर हो।

विकासके इस कार्यके करनेमें यह जानना अत्यंत उपयोगी होता है कि साधक किस विकास-किरण पर है। [विकासके सात किरणोंकी चर्चा 'थिऑसोफीके मूल सिद्धांत' भाग १ के प्रथम अध्याय चित्र ११ में और फिर भाग ३ अध्याय १४ चित्र

११८ में की गई है।] सोसायटीके अधिकांश सदस्य तीसरीसे सातवीं किरणों तकमें से किसी किरण पर हैं, पर बहुतसे लोग अपने प्रयाससे अपनी किरण बदलकर पहिली और दूसरी किरणोंमेंसे किसी एक पर आ रहे हैं, जिससे वे छठी मूलजातिके भावी मनु और बोधिसत्त्वके नेतृत्वमें कार्य कर सकें। इन्हीं दो सिद्ध महापुरुषोंने थिओसॉफिकल सोसायटीकी स्थापना कराई थी। हमारी सोसायटीके बहुतसे लोग छठी जातिमें जन्म लेंगे; पर ऐसे भी लोग हैं जो पाँचवीं जातिको और उन्नत तथा दक्ष बनानेमें उसीके साथ रह कर कार्य करते रहेंगे। कोई भी किसी कार्यके लिए ऐसा आवश्यक नहीं है कि उसके बिना काम ही न चल सके। कामके योग्य व्यक्ति तो सिद्धमहापुरुष लोग जुटा ही लेंगे। भिन्न भिन्न संस्थाएँ, कुछ दोष रहते हुए भी, सिद्ध-संघके कार्यकी पूर्तिमें काम आती हैं। उनमें जो गुण हैं उनका उपयोग होता है, जो दुर्गुण हैं उनकी अवहेलना होती है। सिद्ध-संघ किसीका तिरस्कार नहीं करता। हमारी भूलोंको वे सुधार लेते हैं, पर हमें तो भरसक प्रयत्न करना ही चाहिए कि हमारा कार्य निर्दोष हो।

सभी प्रकारकी योग्यता एक ही जन्ममें प्राप्त नहीं की जा सकती; एक-एक करके हमें सब कुछ जानना और सीखना है। एक जन्ममें जो व्यक्ति अध्यात्मका ज्ञान संचित करता है, हो सकता है कि अगले जन्ममें वह अपनी बुद्धि और मेधाको अधिक जागृत करे और इस कार्यमें उसे अपने आध्यात्मिक अभ्याससे सहायता मिलेगी। अध्यात्मको जाननेवाला व्यक्ति अपनी विकसित मानसिक शक्तियोंका दुरुपयोग कभी न करेगा।

हमें बराबर प्रयत्नशील रहना चाहिए। प्रयत्न कभी व्यर्थ नहीं जाता। घबराने और उतावली करनेकी आवश्यकता

नहीं। समय हमारे लिए है ही, केवल उसे आलस्यमें नष्ट न करना चाहिए।' अनेक जन्मोंमें निर्मित अज्ञान और हठधर्मीकी दीवारोंको हमें तोड़ गिराना है। हमें इस अपने ही बनाये कारागारसे मुक्त होना है और यह कार्य हम गुरुदेवके पद-चिह्नों पर चलकर पूरा कर सकते हैं।

सूत्र' १८ फिर चौहानकी ही अपनी व्याख्या है। इसमें गुरुदेव हमें चेतावनी देते हैं कि सदैव सतर्क और जागरूक रहें और किसी और से न डरकर भी अपनेसे डरें।

> १८. जो ज्ञान अब तुम्हें प्राप्त हुआ है, वह इसी कारण तुम्हें मिला है कि तुम्हारा आत्मा सभी शुद्ध आत्माओंसे और उस परमतत्त्वसे एक हो गया है। यह ज्ञान तुम्हारे पास उस सर्वोच्च (ईश्वर) की धरोहर है। इसमें यदि तुम विश्वासघात करो, उस ज्ञानका दुरुपयोग करो या उसकी अवहेलना करो, तो अब भी सम्भव है कि तुम जिस उच्च पद तक पहुँच चुके हो, उससे नीचे गिर पड़ो। बड़े-बड़े पहुँचे हुए लोग भी अपने दायित्वका भार न सम्हाल सकनेके कारण और आगे न बढ़ सकनेके कारण ड्योढ़ीसे गिर पड़ते हैं और पिछड़ जाते हैं। इसलिए इस क्षणके प्रति श्रद्धा और भयके साथ सजग रहो और युद्धके लिए तैयार रहो।

'पहुँचे हुए लोग भी ड्योढ़ी पर पहुँचकर नीचे गिर पड़ें'

एक असंभव सी बात जान पड़ती है। जितना ही इन लोगोंके निकट जाओ, उतना ही यह असंभव जान पड़ता है कि उस ऊँची अवस्थामें स्वार्थका लेश भी रह जाय। परंतु जब चौहान स्वयं ऐसा कहते हैं, तो अवश्य ही यह सत्य होगा। 'अहं'की भावना बड़ी सूक्ष्म होती है और वह अनेक रूप धारण करती है और ऐसी अवस्थामें प्रकट होती है जहाँ उसकी कोई आशंका नहीं रहती। इसलिए हमको यह चेतावनी पाकर सदैव सतर्क रहना चाहिए। ऐसा न हो कि समयसे पहिले ही हम अपनेको इससे मुक्त समझ बैठें। यही एक बहुत बड़ा बंधन है जो हमारे मार्गमें बाधा बनकर हमें आगे बढ़नेसे रोक सकता है।

आगे फिर तीन सूत्रोंका एक समूह है। ये अंतिम सूत्र हैं। उन्नीसवें सूत्रमें पहिले चौहानकी व्याख्या एक भूमिका ही है।

१९. लिखा है कि जो दैवी पदकी ड्योढ़ी तक पहुँच चुका है, उसके लिए कोई भी नियम बनाया नहीं जा सकता और न कोई पथप्रदर्शक ही उसके लिए हो सकता है।

साधक इस स्थितिमें बाह्य उपदेश या शिक्षणकी पहुँचके बाहर हो गया है। मानव-विकासके पाँचों स्तरों पर उसने प्रकृतिका अध्ययन कर लिया है। वह अब अंतिम बंधन, 'अविद्या' पर विजय प्राप्त करनेके समीप आ गया है। अब उसके जीवनके नियम और विधि-निषेध उसीके अंतस्तलसे प्रकट होंगे। इस लिए अधिक कुछ कहा नहीं जा सकता।

चौहान कहते हैं:—

फिर भी शिष्यको समझानेके लिए इस अन्तिम शुद्धका वर्णन इस प्रकार कर सकते हैं :

जो मूर्त नहीं है और अमूर्त भी नहीं है, उसका अवलंबन करो।

२०. केवल नादरहित शब्द ही सुनो।

२१. जो बाह्य और अन्तर चक्षु दोनोंसे अदृश्य है, केवल उसीका दर्शन करो।

शांति तुम्हें प्राप्त हो

△

समाप्त
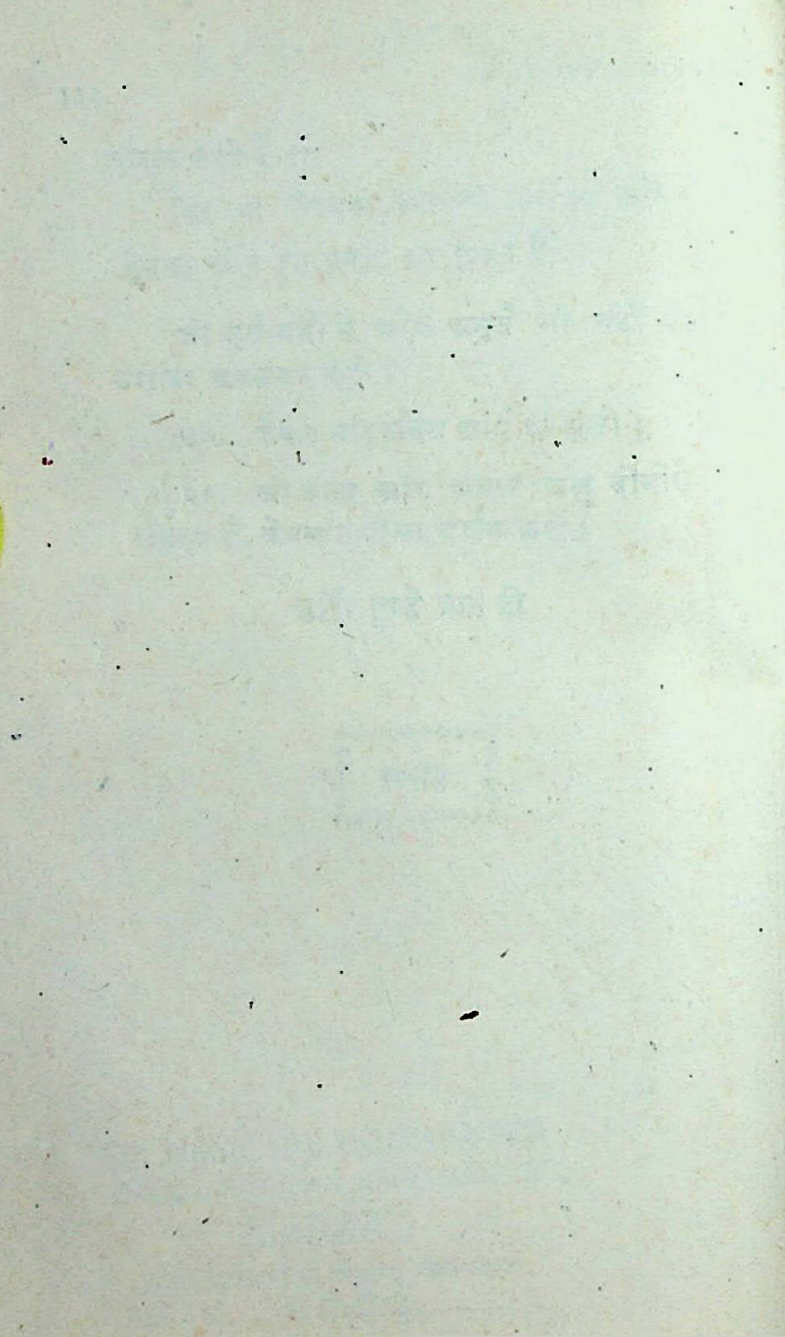
हमारे अन्य प्रकाशन

१	हिन्दूधर्म—एनी बेसएट	॥=)
२	बौद्धधर्म ”	॥)
३	जीवनकी पहेली ”	॥)
४	भारतीय आदर्श ”	१)
५	अदृश्य सहायक—लेडबीटर	२॥)
६	जीवन दर्शन—रोहित महेता	१॥)
७	थिऑसोफीके मूल सिद्धान्त भाग १, २, ३ श्री जिनराजदास लिखित	५)
८	मेरी प्रतिज्ञा ”	॥=)
९	नैवेद्य ”	॥)
१०	थिऑसोफीका व्यवहारदर्शन ”	॥)
११	निरामिष भोजन—ज्यॉफ्रे हॉड्सन	।)
१२	राजयोगके मूलतत्व—रा० स० भागवत	१॥)
१३	सनातनधर्म और युगधर्म-पुत्तनलालविद्यार्थी	।=)
१४	ध्यान, अभ्यास और परिणाम—क्लाराकॉड	॥)
१५	संगीत लहरी—संपादिका, श्रीदेवी महेता	१)
१६	थिऑसॉफिकल सोसायटी और उसकी सदस्यता—एन्० श्रीराम	‐)
१७	द्वंद्वकी समस्या—रोहित महेता	=)
१८	जीवनकी समस्या और थिऑसोफी—डॉ० राजेश्वरप्रसाद चतुर्वेदी	‐)
१९	सृजनात्मक शिक्षा—रोहित महेता	≡)
२०	स्वतंत्रता और बंधुत्व—श्रीदेवी महेता	‐)
२१	ब्रह्मविद्याका प्रचार क्यों—जगत नारायण	‐)
२२	तीन उद्देश्य—रोहित महेता	‐)
२३	साम्यवाद क्यों नहीं ?—रोहित महेता	॥)
२४	पंचशील ”	=)
२५	अध्यात्मिक संगठन और शोषण ”	=)
२६	ध्यानमाला—श्रीमती ऐनी बेसएट	१॥)

आनंद प्रकाशन लिमिटेड

कमच्छा, बनारस १